संस्कृत पाठ माला

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी. से ४) प्रति भाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -)एक आना अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है -

१ प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

इन भागोंमें संस्कृत के साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।

इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग।

इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।

इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधी बताई है।

५ एकादश भाग।

इस भागमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।

इस भागमें समासोंका विचार किया है।

७ तेरहसे अठारहवें भाग तकके ६ भाग

इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवे भागतकके ६ भाग

इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



वैदिक यज्ञ संस्था।

द्वितीय भाग।

संपादक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार.

संवत् १९८३, सन १९२७

मूल्य १) रु०

मुद्रक तथा प्रकाशक ।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल
औंध (जि. सातारा)

वैदिक यज्ञ संस्था।

द्वितीय भाग।

विषय संबंध।

इस यज्ञ ग्रंथमाला का उद्देश्य वैदिक यज्ञ संस्था का विचार प्रकाशित करना है। इस लिये यज्ञका तत्त्व जानना अत्यावश्यक है। यह वैदिक यज्ञ के तत्त्वका विवेचन " भारत वर्षमें यज्ञकी कमी " लेख में पाठक देख सकते हैं। इस लेखमें श्री० पं० देवशर्माजी विद्यालंकार ने जिस ढंगसे यज्ञके तत्त्वका स्पष्टीकरण किया है उस प्रकार का कोई लेख इस समयतक भारत वर्षकी किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है और नाही किसी अन्य देशमें हुआ है। हरएक दृष्टिसे यह लेख अपूर्व है और यदि पाठक मनन पूर्वक यह लेख चार पांच वार पढेंगे, तो उनको यज्ञके तत्त्वका ज्ञान परिपूर्णतया हो सकता है। आशा है कि पाठक इस लेखसे लाभ उठावेंगे। यह लेख प्रारंभसे पृ. ११८ तक विस्तृत है और इस में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है कि जो लेखक महोदय जीने विना पूर्ण विचार करके लिखी न हो। हरएक बात इतनी

परिपूर्ण विचार से लिखनेका कौशल्य और ग्रथित करनेकी योग्यता पं० देवशर्माजी के अंदर अपूर्व है और इस बात का अनुभव इस लेखमें पाठक देख सकते हैं।

दूसरा लेख श्री० पं० बुद्धदेवजी का संज्ञपन और अवदानका है। लेख यद्यपि छोटा है तथापि प्रभाव शाली है। पं० बुद्धदेव के यज्ञविषयक लेख पहिले भाग में भी प्रसिद्ध हुए हैं और इनके लेख बडी अन्वेषणापूर्वक लिखे होने के कारण हरएक पाठक इनकी प्रशंसा मुक्तकंठसे करते हैं। यदि पं० बुद्धदेवजी अपनी ब्राह्मणग्रंथोंकी गवेषणा अधिक वेगसे चलायेंगे, और उन ग्रंथोंमें संगृहित यज्ञतत्त्व का आविष्कार करना अपना जीवनोद्देश्य बनायेंगे तो गूढ यज्ञ विषयकी उलझान करने में वे कृतकार्य हो सकते हैं इस में हमें शंका नहीं।

तीसरा लेख " यज्ञ में पशुहिंसा तथा उसका इतिहास " है। यह लेख गुरुकुल कांगडी की साहित्यपरिषद् द्वारा संपादित यज्ञ हिंसा विषयक ग्रंथसे उद्धृत किया है, जो अवश्य पढने योग्य है।

आगे पुरुषमेध या 'नरमेध' शीर्षक का संपादकीय लेख है जिससे नरमेध की कल्पना स्पष्टरूप से व्यक्त हो सकती है।

इस प्रकार यह द्वितीय भाग का लेखोंका विषय है। इसके आगे तृतीय भागमें एक एक 'वैदिक यज्ञ' तथा 'वैदिक इष्टियां' लेकर उनका विचार प्रकट करना है तथा यज्ञ का

नकशा तथा अन्यान्य यज्ञकी विशेषताएंभी बताना है । और इस प्रकार यह यज्ञ विषयक लेखमाला पांच भागोंमें समाप्त करनी है । आशा है कि यह माला अपने कार्यके लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

औंध (जि. सातारा)
१ पौष सं० १९८३

निवेदक,
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल.



विषय सूची।



"भारतवर्षमें यज्ञकी कमी।"

१ भूमिका।

इस देशमें होनेवाले किसीभी सार्वजनिक कार्य की गतिव देखते हुए यह अनुभव हुए विना नहीं रहता कि हम लोग "यज्ञ को नहीं समझते। 'यज्ञ' शब्दका उच्चारण वेशक हम लोग करते हैं परन्तु जो यज्ञवस्तु है उसे हमही सवसे कम समझते हैं संसार के अन्य उन्नत देशोंमें 'यज्ञ' शब्द तो वोला नहीं जाता (क्यों कि उनकी भाषायें हमसे भिन्न हैं) परन्तु यज्ञवस्तुका अनुष्ठान हमारी अपेक्षा वे वहुत अधिक करते हैं, इसी लिये वे उन्नत और सुखी हैं।

हमारे लिये यज्ञशब्द मुर्दा होगया है। वेदों और शास्त्रोंमें, सव प्राचीन संस्कृत साहित्य में हम "यज्ञ" वार वार पढते हुये भी किसी सजीव वस्तुका वोध नहीं प्राप्त करते हैं। हमारा सव साहित्य ही मृतप्राय है। यह वहुत थोडोंके लिये जीवन रूपमें है। शब्द जीवित तव होते हैं जव उनके अर्थोंका किसी जनसमुदाय में मनुष्यजीवन के साथ सम्वन्ध होता है। जिन शब्दोंका केवल

उच्चारण शेष रह जाता है और उनके अर्थों से जीवन का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता वे शब्द मर जाते हैं और उन से बने साहित्य भी मर जाते हैं। तो स्पष्ट है कि हम वैदिकधर्मावलम्बियोंका क्या कर्तव्य है जो कि वैदिक साहित्यका पुनरुज्जीवन करना चाहते हैं ? वैदिक साहित्यमें वर्णित बातों को अपने दैनंदिनीय व्यवहारमें लाना चाहिये। इसके विना कभी भी वैदिक साहित्य जीवित नहीं हो सकता। यहीं तो 'यज्ञ' का प्रकरण चल रहा है। हमें अपने जीवनों को 'यज्ञीय' बनानेका यत्न करना चाहिये। जितना जितना हम यज्ञवस्तु को अपने दैनिक जीवन में बर्तेंगे उतना उतना ही यज्ञका तत्त्व, यज्ञका रहस्य, यज्ञका वास्तव अर्थ प्रगट होता जायगा। और धीरे धीरे इसी प्रकार हमें यज्ञका असली तत्त्व स्पष्टतया प्रकाशित हो जायगा, तथा हमारे बहुतसे भ्रम दूर हो जायेंगे। हमारे शास्त्रों में जो यज्ञके बडे बडे आश्चर्यकारी फल बतलाए हैं, तब हम उन्हें न केवल सत्य समझेंगे पर उन्हें साक्षात्प्राप्त किया करेंगे। तब हमारे शास्त्रोंको कौन मुर्दा कह सकेगा ? और यज्ञ जैसे एक महत्त्व के विषय को पुनरुज्जीवित करना हमारी बहुत ही भारी सफलता होगी।

२ यज्ञ की महिमा।

वैदिक साहित्य में यज्ञका बडा भारी महात्म्य है, यह बात तो इसीसे प्रगट है कि इस सभी साहित्यमें- इस साहित्य की प्रत्येक पुस्तकमें- यज्ञचर्चा भरी पडी है।

प्राचीन वैदिक साहित्यमें से यदि सब यज्ञ सम्बन्धी स्थलोंका उद्धरण मात्र किया जाय तो एक बडा भारी पोथा बन जायगा। बहुतसे लोग तो मानते हैं कि वेदमें केवल यज्ञका ही विषय है। हम भी इसे ठीक समझते हैं। परन्तु केवल भेद इतना है कि हम

यज्ञका अर्थ बहुत विस्तृत समझते हैं। 'याज्ञिक' कहलाने वाले लोग जिस वस्तुको यज्ञ कहते हैं हमारा यज्ञ उससे बहुत विशाल है, व्यापक है। बल्कि हम तो कहते हैं कि चारों वेद पैदा ही यज्ञसे हुए हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

इत्यादि। अस्तु। हम यहां तो यह कह रहे हैं, कि वैदिक साहित्यमें सर्वत्र यज्ञका वर्णन है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गीता (महाभारत) आदि सब ग्रंथों में जो यज्ञका बहुत बहुत व्याख्यान है वह बतलाता है कि वैदिक धर्म में यज्ञ का महात्म्य कितना अधिक है और हमारा स्वभावतः ध्यान खींचता है कि हम ऐसी अद्भुत वस्तु को जानें कि यज्ञ क्या है।

३ सबको बांधे रखनेवाली वस्तु।

इस यज्ञ महात्म्यके प्रकरण में निम्न लिखित वेदमन्त्र ध्यान देने योग्य हैं-

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।

ऋ. १। १६४। ३५ यजु. २३। ६२ अथ० ९। १०। १४

"यह यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी नाभि है, बान्धने वाला है।" यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद तीनों में आता है। इससे पहिले मन्त्रमें प्रश्न किया गया है-

"पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्।"

(ऋ० १। १६४। ३४, यजु. २३। ६१ अथ० ९। १०। १३

इस मन्त्रके चारों पादों में चारही प्रश्न हैं और अगले मन्त्रमें क्रमशः इन चारों के उत्तर हैं। शेष तीन प्रश्नोंका यहां प्रसंग न होनेसे उन्हें छोड दिया है और यहां एक एक पाद ही दोनों

मन्त्रों का उद्धृत किया है । प्रश्न यह है " मैं तुझ से पूछता हूं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बांधने वाली वस्तु कौन है ?" इसका उत्तर दिया कि "यह यज्ञ इस संसार को बांधने वाला है ।"

" अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः । "

तो फिर यह जानना चाहिये कि यह यज्ञ क्या है, कहां है जिससे कि सब संसार बंधा हुआ है ?

४ यज्ञका मुख्यार्थ ।

"भारतवर्ष में यज्ञ की कमी " यह शीर्षक देखकर कई लोग समझेंगे कि शायद मैं इस लेखद्वारा इस बात पर जोर देने लगा हूं कि भारतवर्ष में प्रत्येक घरमें प्रातः और सायं अग्निहोत्र होना चाहिये । परन्तु यह बात तो दूर है । अन्य उन्नत देशोंकी अपेक्षासे तो इस बातकी भारत में कमी भी नहीं है । यज्ञ और अग्निहोत्र में भेद है । अग्निहोत्र भी एक प्रकारका यज्ञ है अर्थात् यज्ञ अग्निहोत्र से एक बहुत व्यापक वस्तु है । यज्ञ वह है जिससे कि सब ब्रह्माण्ड बन्धा हुआ है: बिखरता नहीं । अग्निहोत्र तो गृहस्थाश्रमियों के नैत्यिक कर्मोंमेंसे एक कर्म है । परन्तु यह कर्म भी वृथा है जब तक कि हम यज्ञके असली अर्थको नहीं समझते । वह असली अर्थ क्या है ? इसे प्रकट करनेके लिये मैं निम्न लिखित शब्दोंको प्रयोग करूंगा ।

" मेल, मिलना, जुडना, सम्बन्ध रखना, ठीक तरह जुडना, ठीक तरह सम्बन्ध स्थापित रखना । "

इन शब्दोंका स्पष्टीकरण आगे इसी लेखमें आता जायगा । यहां केवल यह अभीष्ट है कि पाठकोंको पता लगे कि यज्ञ के अर्थ में मुख्य बात " संगतिकरण" है या वेदके भावानुसार कहा जाय तो "बांधे रखना " (नाभि) यह यज्ञका मुख्य चिन्ह है। परन्तु यज्ञका

एक अर्थ क्या हुवा ? यज्ञका लक्षण क्या है ? यदि यह मुझसे पूछा जाय तो मैं कहूंगा कि—

मिल कर किये जाने वाले शुभकर्म का नाम यज्ञ है ।

यही यज्ञका लक्षण है । यही यज्ञका मुख्य अर्थ है । इसी अर्थ में वेदशास्त्रोंमें यह शब्द मुख्यतया कहा गया है । यही मेरी स्थापना है । इस स्थापना के आधार पर ही मेरा अन्य सब कथन है ।अतः इसे बिना सिद्ध किये आगे चलना कठिन है । उपर्युक्त लक्षण ही यज्ञका मुख्यार्थ है यदि इस पर पाठकोंका विश्वास न हुआ तो मेरा यह लेख लिखने का श्रम ही व्यर्थ जायगा । अतः पहिले इस स्थापना को पुष्ट, प्रमाणित और स्पष्ट करके हम आगे चलेंगे । आशा है पाठक धैर्य रखेंगे यदि इसके कारण " भारतवर्षमें यज्ञ की कमी" कैसे है यह दिखलाने में कुछ विलम्ब हो जाय ।

५ " यज्ञ " का वाच्य अर्थ ।

यज्ञका स्वरूप समझना और समझाना अवश्य बडा कठिन है । परन्तु सत्यान्वेषण के लिये हमें यह दुःसाहस या सुसाहस ही करना चाहिये । चाहे पीछेसे कोई साहस दुःसाहस साबित हो, परन्तु सत्यान्वेषण में वहभी सहायक होता है । अस्तु । प्राचीन साहित्यमें यज्ञशब्द बहुत से भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुवा प्रतीत होता है । अतः स्वभावतः स्वाध्यायकर्ता विचलित हो जाता है कि फिर यज्ञका मतलब क्या हुआ ? परन्तु हमारी समझमें उन सब यज्ञ के अर्थों में एकसूत्र होना चाहिये और है । उस सूत्र को जहांतक मैंने पहिचाना है मैं इसी निश्चय पर पहुंचा हूं कि वह सूत्र वह है जिसे कि ऊपर मैंने " मेल, मिलना, जुडना, ठीक तरह संबन्ध स्थापित रखना" इन शब्दोंसे प्रकट करना चाहा है । इस

सूत्रको सर्वत्र गया हुआ दिखलाने के लिये यज्ञ शब्दके जो जो वाच्यार्थ प्राचीन साहित्य में हुए हैं उन्हें एक क्रमसे रखता हूं। आशा है पाठकगण इनकी व्याख्या पढते हुए इस सूत्र को सुगमतासे इनमें देखते जांयगे। पहिले इन यज्ञवाच्य अर्थोंको केवल गिनाता हूं।

(१) परमात्मा यज्ञ है।
(२) यह संसार यज्ञ है।
(३) संगठित मनुष्यसमुदाय यज्ञ है।
(४) मनुष्यजीवन यज्ञ है।
(५) मनुष्यका प्रत्येक श्रेष्ठ कर्तव्यकर्म भी यज्ञवाच्य है।

इन अर्थोंके अतिरिक्त यदि कोई अन्य यज्ञवाच्य रह गये हुवे पाठकोंको प्रतीत होंगे तो वे आगे देखेंगे कि इन पांच या पांच प्रकारके अर्थों की व्याख्या में वे संभवतः आजायंगे। अस्तु। पाठकोंको ध्यान होगा कि इन पांच अर्थोंमें तीसरा अर्थही मुझे मुख्य अभिप्रेत है। यही दिखलाता हुआ कि यह तीसरा अर्थही यज्ञ का मुख्यार्थ है। मैं क्रमशः इन पांचों का स्पष्टीकरण करता हूं।

(१) सबसे पहिले परमात्माका नाम यज्ञ है। उसने इस सब संसार को पूर्णतया ठीक ठीक जोडा है अर्थात् उसने अपने यज्ञ रूप से इस संसार को रचा है। अत एव पुरुषसूक्त में इस परमात्मपुरुषको बारबार यज्ञ नामसे पुकारा है। परमात्मामें यज्ञकी भी पराकाष्ठा है।

"यज्ञो यत्र पराक्रान्तः।"

अतएव मनुष्य के किये हुए सब यज्ञोंका अन्तिम एक मात्र विषय वही है। वह यज्ञरूप है। इसलिये उसे यज्ञ शब्द से पुकारा जाता है।

परन्तु परमात्मा तो सब कुछ है अतः यज्ञ भी है। वह सब का मूल है, अतः संसार व्यापक यज्ञ का मूलभी वही होने से उसक

नाम यज्ञ भी हो गया। जैसे अग्नि वायु आदि उसके सैंकडों नाम हैं वैसे ही यज्ञभी एक उसका नाम है। यज्ञ उसका मुख्य नाम नहीं है।

(२) यह संसार यज्ञ है। वेदमें बहुत जगह इस संसार को यज्ञ कहा है। यह असल में यज्ञ है। यज्ञका अर्थ इसीमें स्पष्टतया दीखता है। परमात्मा तो इसमें भी यज्ञत्व का देखनेवाला होनेके कारण यज्ञ कहलाया है। यह संसार बडी अच्छी तरह ठीक ठीक जुडा हुआ है, इसमें सब कार्य ठीक ठीक अटल नियमों द्वारा इस तरह रहे हैं कि यहां सर्वदा सब वस्तुयें ठीक ठीक स्थानपर ठीक ठीक सम्बन्धमें विद्यमान रहती हैं। यह संसार ठीक तरह बंधा हुआ है। ऐसा बंधा हुआ है कि मिलकर एक वस्तु बना हुआ है। और इतनी अच्छी तरह बंधा हुआ है कि यह सब मिलकर पूर्ण है।

'पूर्णात्पूर्णमुदच्यति।'

यह संसार यज्ञ है।

परन्तु इस पूर्ण यज्ञका कर्ता है परमात्मा। इसी लिये यह यज्ञ पूर्णतया सदा बिना त्रुटिके चल रहा है। हम अल्पज्ञ, अल्प शक्ति जीवों में से कोई इस यज्ञको नहीं कर सकता है। अतः हमारे लिये यह यज्ञभी गौण है। इसे हमने नहीं करना है। यह परमात्मा का यज्ञ है। हमें तो वह यज्ञ जानना है जो कि वह हम मनुष्यों ने करना है। वह इन में से कोई नहीं है!

(३) इस दो यज्ञों के बाद जो शेष तीसरा, चौथा, पांचवा यज्ञ रह गये हैं वे हम मनुष्यों ने करने हैं ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु इनमें भी चौथे के विषय में वास्तव ऐसा नहीं कहा जा सकता है जैसा कि चौथे की व्याख्यामें बतलाया जायगा तथा पांचवे को यज्ञांग होने से ही यज्ञ कहा जाता है यह भी वहीं दीखलाया जायगा। अतः यह तीसरा अर्थात् "मनुष्यों का संगठित

समुदाय" ही मुख्य यज्ञ है जो कि मनुष्यने करना है। और इसी वास्तविक यज्ञ की भारत वर्षमें बहुत कमी है। क्यों कि पीछे इस सब लेखमें इसी असली यज्ञ की व्याख्या होनी है अतः यहां इस पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना कह देना आवश्यक है कि सब सभा. समिति, संग्राम इसी यज्ञ में आते हैं अर्थात् सब संगठण, सब संघ, सब संस्थायें इसी में समाविष्ट हैं, कर्म काण्ड के प्रसिद्ध बडे बडे (आज कल यज्ञ शब्द इन्हीं में प्रयुक्त होता है) राजसूय विश्वजित आदि यज्ञ इसी तीसरे प्रकार के अर्थमें आते हैं।

(४) फिर मनुष्य जीवन यज्ञ है। ऊपर संसार को यज्ञ कहा है जिस का कि कर्ता परमात्मा है । मनुष्यभी संसारकी एक छोटीसी प्रतिमा है। एवं यह मनुष्यजीवन भी एक यज्ञ है जिसे कि जीवात्मा (इन्द्र) शतक्रतु बनकर सौवर्ष तक चलाता है। मनुष्य जीवन यज्ञ है इसका बडा सुन्दर वर्णन छांदोग्योपनिषद् में हुवा हुवा है। पर मनुष्य जीवन क्या है ? अपने अन्दरकी सब वस्तुओं को ठीक जोडे रखना, उनका सम्बन्ध बिगडने न देना और साथ ही संसार के साथ सम्बन्ध न बिगाडना। संबन्ध बिगडते ही यज्ञ विध्वंस होजाता है। रोग या कोई अन्य कष्ट आते हैं। इस पवित्र यज्ञको बडी सावधानी से चलाना चाहिये।

परन्तु पाठकों को देखना चाहिये कि यह यज्ञ मनुष्य का प्रारंभ किया हुआ नहीं है। यह प्रारम्भ तो परमात्मा का किया हुआ है। मनुष्य ने तो इसे ठीक तरह चलाना है या (ऐसा कहना अधिक ठीक है) चलते रखना है। परमात्मा के यज्ञ का-संसार का मनुष्य भी एक अवयव है। अतः यह भी एक तरह उसी का यज्ञ है, परन्तु उसने इसे चलानेका काम अपनी आधीनता में जीव को

सौंप रखा है । मनुष्य की दृष्टि यही होनी चाहिये कि यह मेरा जीवन परमात्मा की वस्तु है-उसके यज्ञका एक अंग है-इसे बिगाड़ने न देना तथा संसारयज्ञ में काम आने के लिये इसे ठीक तरह चलाना ही उसका कर्तव्य है। अस्तु! तात्पर्य यह है कि यज्ञ भी वह नहीं है जिसे कि मनुष्य ने स्वयं रचना है, चलाना है और पूर्ण करके लाभ प्राप्त करना है। ऐसा यज्ञ तो उपर्युक्त "मनुष्य संगठन" ही है। इस मनुष्ययज्ञ को तो मनुष्यने संसारयज्ञके आधीन चलते रखना है, बस यही कर्तव्य है, परन्तु इस कर्तव्य के लिये जो उसने स्वयं यज्ञ रचने हैं और चलाने हैं वे नाना प्रकार के मनुष्यसंगठनरूप यज्ञ हैं।

इस बात को और स्पष्टतया देखनेके लिये यों विचारना चाहिये कि यज्ञ एक पुरुष है। यज्ञ पुरुषका वर्णन हमारे साहित्य में प्रायः पाया जाता है। यहां पुरुष का अर्थ है " अवयववान् शरीर" या " संगठन" (Organized Body) या Organization) संसार और मनुष्य ये दोनों यह " पुरुष " हैं (organism हैं) संसार भी पुरुष है, विराट् शरीर प्रसिद्ध है। मनुष्य तो पुरुष (Organisation) है ही। परन्तु ये दोनों (संसार और मनुष्य) पुरुष (Organisation) पहिलेसे बने हुए हैं। मनुष्य ने जो पुरुष बनाना है- अवयववान् शरीर बनाना है वह अपने आपसे बनाना है। अर्थात् मनुष्योंका सामुदायिक संगठनरूपमें बनाना है। यह राष्ट्रपुरुष है (Body politic) या समाज पुरुष है, एवं अन्य पुरुष हैं। यह (पुरुष) यज्ञ है जो कि मनुष्यने करना है। इस लिये मैं कहता हूं कि मनुष्यने जो यज्ञ करना है वह " मिलकर किये जानेवाले किसी संगठित कार्य" के रूप में है। यही हमारे यज्ञ का अर्थ है। अस्तु। यहां तो इतनाही अभिप्रेत था कि

मनुष्यजीवन यज्ञ भी वह यज्ञ नहीं है, जो कि मनुष्यने करना है।
(५) यज्ञ का अन्तिम व्याप्य अर्थ मनुष्य के प्रत्येक उस कर्म का है जिस से कि उसका इस (परमात्मा के) संसार के साथ ठीक सम्बन्ध जुडा रहता है। इस प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म का नाम, प्रत्येक कर्तव्य का नाम यज्ञ है, क्यों कि उचित अर्थात् प्रकृति नियमों के अनुकूल कर्मसे यह संसार संगत रहता है जुडता है। हमारे प्रत्येक बुरे नियमों के विपरीत कार्य से संसार बिगडता है बिखरता है. हमारा जगत् से सबन्ध उखडता है और फलतः हमें क्लेश पहुंचता है, ये सब अयज्ञ कर्म हैं।

भगवद्गीतामें कहा है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ॥

भ. गी. ३।९

" इस लोकमें वे ही कर्म बन्धन होते हैं जो कि यज्ञार्थ के अतिरिक्त किये जाते हैं।" इस का अर्थ यह हुआ कि यज्ञार्थ कर्म ही हमें करने चाहिये, क्यों कि यज्ञ के लिये-संसारयज्ञको ठीक तरह चलने के लिये-- जो कर्म किये जाते हैं। (वे निष्काम स्वयमेव ही होंगे) उनके करने से बन्धन कभी नहीं होता। एवं अन्यत्र गीता में कहा है कि यज्ञ, दान और तप ये कर्म करने चाहिये। यदि यज्ञका उपर्युक्त अर्थ लें तो दान और तपभी इसी में आजायंगे और इस प्रकार गीता का कहना है कि यज्ञके अतिरिक्त और कुछ कर्म नहीं करना चाहिये अथवा हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञ होना चाहिये। यज्ञ के इस अर्थ में बहुत से यज्ञ आजाते हैं। भगवद्गीता में चौथे अध्यायके २५ से ३३ श्लोक में जो बहुतसे यज्ञों का वर्णन है वहां यज्ञ इसी अर्थ में हैं।

" यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ।"

यहां भी इसी अर्थमें यज्ञशब्द है । सन्ध्या और अग्निहोत्र को यज्ञ इसी अर्थमें कहते हैं। पांचों महायज्ञ प्रसिद्ध हैं । गीतामें स्वधर्म पालन को ही यज्ञ कहा है। ये सब बातें यज्ञ के इसी अर्थ में संगत हैं । यदि प्रातः से सायंतक हमारा प्रत्येक कर्म " यह मेरा कर्म जगत्-यज्ञ के चलाने के लिये है, यह कर्म भगवान् के लिये है" इस भावनासे किया जाय तो हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञही हो जायगा और हम जीवन्मुक्तिका आनन्द लेंगे। परन्तु यज्ञ का यह अर्थ मेरी समझमें लाक्षणिक अर्थ है। मुख्य अर्थ नहीं। यहां यज्ञ के एक अंग कर्म को यज्ञ कहा जाता है या भगवद्गीता के शब्दों में " यज्ञार्थ कर्म " को यज्ञ कह दिया जाता है। ये कर्म मुख्य अर्थ में यज्ञ नहीं है किन्तु संसार यज्ञ के या मनुष्य यज्ञ के या अन्य मनुष्यकृत संगठन यज्ञ के अंग होने से यज्ञ कहलाते हैं। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय महासभा का चर्खासंगठन एक यज्ञ है, जो कि प्रत्येक राष्ट्रसभासद के चर्खा चलानेसे बना है। परन्तु व्यक्ति के चर्खा चलानेके कर्म के लिये भी यज्ञ शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ के एक कर्म को भी यज्ञ कहा जाता है इसे खूब ध्यान रखना चाहिये कि इस अर्थ में साहित्य में यज्ञका बहुत बहुत प्रयोग हुआ है। यह ठीक भी है। क्यों कि यज्ञ का एक कर्म अर्थात् सामाजिक यज्ञमें एक व्यक्तिका कर्म बड़े महत्त्व का है। मैं इसे " वैयक्तिक यज्ञ" के नाम से कह सकता हूं। यद्यपि ये मुख्य यज्ञ नहीं हैं, तो भी क्यों कि इनके बिना मुख्य सामाजिक यज्ञ नहीं बन सकता इसलिये इन यज्ञों की वैदिक साहित्य में इतनी चर्चा है तथा इन्हें यज्ञ नामसे ही पुकारा गया है । इनका विशेष वर्णन अन्त में किया जायगा।

६ इन अर्थों का समन्वय।

इन पांचों यज्ञार्थों की व्याख्या से यह स्पष्ट होगया होगा कि पहिला दूसरा और चौथा यज्ञ ऐसा है जो कि स्वयं हो रहा है इसे मनुष्यने नहीं रचा है और पांचवां वास्तवमें यज्ञ नहीं है किन्तु यज्ञार्थ कर्म है। इसलिये तीसरा ही वास्तविक यज्ञ है। इसलिये हमारी यह स्थापना प्रमाणित हुई कि यज्ञका मुख्य अर्थ है "मिलकर किये जानेवाला संगठित शुभ कार्य।" इस सब विवेचनका एक वाक्य में अर्थ यह हुआ कि यह संसार यज्ञस्वरूप परमात्मा का चलाया वा एक बडा भारी महायज्ञ है, इसी महायज्ञ के अन्तर्गत उसीके नियन्त्रण में मनुष्यों के जीवनरूपी बहुत से छोटे छोटे यज्ञभी चल रहे हैं, इस लिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को न केवल यह चाहिये कि वह सब ऐसे हो कर्म करे जो कि इस महायज्ञ के अनुकूल हों —सहायक हो अर्थात् यज्ञार्थ कर्मही करें अपि तु उसे स्वयं भी ऐसे यज्ञ (जो कि मनुष्य संगठन का नाम है) करने चाहियें जो कि इस महायज्ञके अनुरूप हों अर्थात् हमारे यज्ञ—सब संगठन—ऐसे ठीक होने चाहिये जैसे कि यह संसार, है या ऐसे सुसंगठित (Well organised) होने चाहिये जैसे कि यह शरीर है।

संक्षेप में इस का अर्थ यह है कि जैसे आधिदैविक यज्ञ संसार में हो रहा है और आध्यात्मिक यज्ञ शरीर में हो रहा है उसी तरह मनुष्य को भी यज्ञ करना चाहिये अर्थात् आधिभौतिक संगठित शरीर बना कर कार्य करना चाहिये। यही यज्ञ का वास्तविक अर्थ है। इसी लिये शायद (निरुक्त के पढनेवाले जानते हैं) निरुक्तकारने मन्त्रोंके आधिदैविक अर्थ किये हैं और आध्या-

त्मिक अर्थ भी किये हैं, परन्तु उस में आधिभौतिक अर्थ नहीं दिखाई देते उसकी जगह 'अधियज्ञ' अर्थ विद्यमान है। इसका तात्पर्य यह समझमें आता है कि उन के समय में आधिभौतिक और यज्ञ बिलकुल समानार्थक होगये थे। इस से भी स्पष्ट है, कि यज्ञका असली अर्थ आधिभौतिक है-सामाजिक है, आध्यात्मिक व वैयक्तिक नहीं।

अब हम इसी वास्तविक यज्ञ को मनुष्यों के संगठित होकर किये जानेवाले कार्यों की ही अच्छी तरह व्याख्या करेंगे। और पीछे से वैयक्तिक यज्ञों को अर्थात् यज्ञार्थ कर्मों की भी व्याख्या करेंगे।

(७) यज्ञोंके रूप।

इस यज्ञकी व्याख्या पढने से पूर्व पाठकों को इस बातसे परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि यह संगठनरूप यज्ञ हमारे सामने किन किन रूपोंमें आता है और इस परिचय को पानेके लिये पाठकों को अपने मनसे यज्ञविषयक अन्य सब अशुद्ध संस्कार निकल डालने चाहिये। अभीतक 'यज्ञ' शब्द सुनने से या तो हमें हवन अग्निहोत्र का ध्यान आता है या किन्हीं कथाओंमें सुने अज्ञात गोमध, नरमेध, अश्वमेध, राजसूय, पुत्रेष्टि आदिका अपना अपना मनः कल्पित चित्र सामने आजाता है। पर मैं जानता हूं कि अब इतने विवेचन के बाद आपके सामने यज्ञ शब्द किसी 'संगठित मनुष्य समुदाय द्वारा किये जाते हुए शुभ कार्य' का ही चित्र आने लगे, अधिक से अधिक अपने नैत्यिक पवित्र वैयक्तिक कर्तव्योंको भी यज्ञांग होनेके कारण आप यज्ञ कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त और सब यज्ञविषयक कल्पनायें अपने मन से निकाल दीजिये। तभी आप यज्ञको यथार्थरूप में समझ सकेंगे। इस प्रकार समाज का चातुर्वर्ण्य और आश्रम व्यवस्था का संगठन एक महायज्ञ है। राष्ट्र एक यज्ञ है। स्वराज्यसंगठन (Govern

ment) एक यज्ञ होता है। संग्राम-बुराई के नाश के लिये किया गया संग्राम-यज्ञ है। वर्तमान समयमें भारतमें राष्ट्रीय महासभा (Nationl Congress) एक यज्ञ है। आर्य समाज एक उच्च यज्ञ है। गुरुकुल आदि शिक्षा संस्थायें यज्ञ हैं। हमारी प्रतिनिधि सभायें यज्ञ हैं। राष्ट्रीय सभासमितियां यज्ञ हैं। सेवा समितियां पवित्र यज्ञ हैं। दलितोद्धार सभा यज्ञ है। सम्मेलन और सभाओंका प्रत्येक अधिवेशन यज्ञ है। व्यापार संगठन (जो कि गरीबोंका नाश नहीं करता) यज्ञ है। प्राचीन भारतके एक पेशेवालोंके ये संगठन यज्ञ होते थे। एक गृहस्थ परिवार यज्ञ है। तात्पर्य यह कि सब छोटे बडे संगठन जो कि कल्याण के लिए किए गए हैं यज्ञ हैं। इनमें हमारी यज्ञभावना होनी चाहिये। यदि हम इनमें महत्त्व देखेंगे और इन यज्ञों का अनुष्ठान करेंगे तभी हम इस योग्य भी होंगे कि हमारे शास्त्रोंमें जो अन्य सूक्ष्म यज्ञ प्रतिपादित हैं, उन्हें भी समझ सकें। इस लिए हमें ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि हम इन उपर्युक्त संगठनों में यज्ञदृष्टि रखें। येही रूप हैं जिन रूपों में कि यज्ञ प्रतिदिन हमारे सामने रहता है। इन्हीं यज्ञों का ठीक तरह करना हमारा पहिला कर्तव्य है। इन्हीं को पूरा करने से हमारा कल्याण हो सकता है। और इन्हें विना पूरा किये हम आगे नहीं बढ सकते। इसके लिए हमें यह पता लग जाना चाहिये कि ये उपर्युक्त संगठन यज्ञ हैं और येही अवश्य कर्तव्य यज्ञ हैं।

यह तो लिखने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक प्रकार का संगठन (अर्थात् अशुभ के लिये किया गया संगठन भी) यज्ञ नहीं होता। यह बात आगे विस्तार से लिखी जायगी, पर यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि पर पीडन के लिए, गरीबोंको सताने के लिए, दूसरों का खून चूसने के लिए भी संगठन-बडे भारी संगठन- किए जा सकते हैं, पर वे इतने ही बडे भारी पाप

पुंज होते हैं यज्ञ नहीं। दुर्लक्ष्य सामने आते ही संगठनमें से यज्ञकी देवता निकल जाती है और उस पर असुरों का कब्जा हो जाता है। जब लोग यज्ञ करना सीख जाते हैं तो यह ही सब से बडा खतरा है जिससे कि यज्ञको प्रतिक्षण बचाना होता है। शक्ति पाने पर उसके दुरुपयोगका प्रलोभन स्वभावतः आता है। यज्ञ एक महाशक्ति है अतः इसे भी इस शत्रु से बचाना आवश्यक है। ऋषि लोग सब यज्ञोंको लगातार असुरोंके आक्रमण से बचाया करते थे। अस्तु। भारत वासियोंने तो अभी यज्ञ कला सीखी ही नहीं अतः इन्हें अभी इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं।

(८) यज्ञमें जो चाहो प्राप्त कर लो।

यदि पाठक यह जान गए कि यज्ञ मिल कर काम करनेका नाम है तो वे अब जरा गीतामें कहे भगवान् कृष्णके निम्न श्लोक का मनन करें:-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'प्रजापतिने यज्ञके सहित प्रजाओंको बना कर (प्रजाओंसे) कहा कि (तुम) इस (यज्ञ) से (जो कुछ चाहो) उत्पन्न करो। यह (यज्ञ) तुम्हारी सब अभिलषित इच्छाओंका पूरा करने वाला होवे।'

इस श्लोकमें दो बातें कही हैं (१) प्रजाओंके साथ साथ ही यज्ञको भी प्रजापतिने पैदा किया (२) यज्ञ प्रजाओंकी सब इच्छा पूरी करने वाला होता है। पहिले बातको समझनेके लिए यह ढूंढना चाहिये कि मनुष्यके साथ ही पैदा होनेवाला यज्ञ कौनसा है। वेदमें भी मनुष्यमें स्थित इस यज्ञका वर्णन पाया जाता है।

उदाहरणार्थ अथर्व वेदके केन वार्ष्णी सूक्त (१० । २) में जहां मनुष्यके अंग अंगोंके उत्पादक को पूछा गया है वहां यह भी पूछा है कि-

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।

अ० १० । २ । १४

" किस एक देवने इस मनुष्यके अन्दर यज्ञको रखा है " ऐसी अन्य भी कई स्थल हैं जहां कि यज्ञको परमात्मा द्वारा मनुष्यके अन्दर रखा हुवा बताया गया है । वह यज्ञ क्या है ? यह है मनुष्य का मिलनेका, मिलकर काम करने का स्वभाव, मनुष्य स्वभावतः मिलनस्वभाव है, यज्ञशील है । प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, (Man is a social being.) यहां मूल यज्ञ को यज्ञ कहा है । मनुष्यमें जो यज्ञका बीज है उसे यज्ञ कहा है । यह है यज्ञ जो कि मनुष्य के साथ ही मनुष्य के हृदयमें प्रजापति ने पैदा किया है, क्यों कि स्वभावतः ही प्रजापति परमात्माने मनुष्य को मिलनसार बनाया है । यह मिलन स्वभावता का बीज ही-यह मनुष्य के साथ पैदा हुआ यज्ञ ही बढता हुआ सब सामाजिक संगठनों को बनाता है । अथर्व वेदके ८ । १० । (१) सूक्त में इस बीज का गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभा, समिति, आदि रूप में विकास दिखाया गया है । इस लिए यहां तथा अन्य ऐसे स्थलोंपर यज्ञ का अर्थ है मनुष्य का मिलने का स्वभाव जो कि बाहर यज्ञ (संगठन) के रूपमें प्रकट होता है । अस्तु । हम प्रजाओंके पालनेवाले ने हम में उत्पत्ति के साथ उस यज्ञ को पैदा कर अर्थात् हमें मिलन स्वभाव बनाकर ही मानो कह दिया है कि तुम इस यज्ञ से जो चाहो पैदा कर लो । यह दूसरी बात सब जानते हैं कि संगठन, मिलना 'इष्टकामधुक्' है । संघशक्तिसे जो चाहो प्राप्त करलो । कमसे कम बातें करने के लिए हम

भी यह जानते हैं। हम इस पर व्याख्यान दे सकते हैं, मेरे जैसे इस पर लेख लिख सकते हैं। परन्तु इस यज्ञको करना इससे अपनी कामनायें पूरा करना जरा विश्वास की अपेक्षा रखता है। जिसे विश्वास है कि संघशक्ति के विना ये काम पूरे नहीं हो सकते वह अवश्य इस यज्ञको अवश्य करता है। उसी के विषय में कहा जा सकता है कि वह इस तत्त्वको जानता है। चाहे उसने भगवद्गीता को भी न पढा हो।

इस तत्त्व को जानते है हालैण्ड निवासी जो कि मुठ्ठी भर लोग समुद्र में समुद्रको अपने बांधोंसे बांधते हुए अपनी सत्ता रखते हैं। अपनी स्वतंत्र उन्नति शील और स्वाभिमान सत्ता रखते हैं। क्या अपनी यह इच्छा पूरी करना साधारण बात है? इस तत्त्व को जानते हैं वे थोडेसे इंग्लैण्ड निवासी जो कि सात समुद्र पार एक छोटे से टापूमें रहते हुए ३० करोड हिन्दुस्थानियोंको भेडों की तरह जिधर चाहते हैं हांकते हैं इससे अधिक और अ-संभव इच्छा क्या हो सकती है? पर यज्ञ-संघशक्ति उन की यह इच्छा भी पूरी करती है। इसमें किसी का क्या है; भगवान् कृष्ण के शब्दों में कोई यज्ञका अनुष्ठान करेगा यज्ञ उसके सामने काम-धेनु होकर खडा हो जावेगा और कहेगा कि " मुझ से जो चाहो दुह लो "। भले ही यह लेख हिन्दुस्थानियों की पवित्र धर्म पुस्तक में लिखा रखे, पर जो इसे करेगा फल तो उसे ही मिलेगा। यज्ञ के विना हिन्दुस्थानियोंकी स्वराज्य (अपना राज्य) होने की परम स्वाभाविक इच्छा भी पूरी नहीं हो सकी और न पूरी होगी जब तक कि हम ठीक ठीक यज्ञ करना न सीखेंगे। हमारी हालत तो यह है कि वह यज्ञ जिससे कि स्वराज्य की इच्छा पूरी हो वह तो दूर रहा, हमारे अभी छोटे छोटे मिलकर किये जानेके कार्य भी नहीं चलते हैं। छोटासा यज्ञ भी हमसे निबाहा नहीं जाता है।

हमारे चाहे कैसी हालत हो पर यह सत्य तो सूर्यकी तरह चमक रहा है और सदा चमकता रहेगा (हम इसे देखें या न देखें) कि ' यज्ञसे जो चाहो दुह लो ' ।

(९) यज्ञमें अविश्वास ।

हर एक विचारशील भारतवासी के मन में अन्ततः आता है कि यज्ञ के विना हमारा विस्तार नहीं । पर फिर भी हम मिलकर कार्य करने में असमर्थ रहते हैं । क्यों ? इस के दो कारण हैं । (१) यज्ञमें अविश्वास (२) यज्ञ के नियमों का अज्ञान। हमारा इस यज्ञमें विश्वास तो तब हो यदि हम पहले इन्हें यज्ञ तो समझें। मुझे यह फिर दोहराना पडता है कि हमारी इन कार्यों में यह भावना होनी चाहिये । यदि कोई हमारा पवित्र संगठन टूटता है या हमारी कोई संस्था बिगडती है तो हमें कोई विशेष बात नहीं अनुभव होती। हम यह नहीं समझते कि यज्ञध्वंस हो गया, एक बडा पाप होगया । यह इस लिए होता है क्यों कि हम इस श्रेष्ठ संगठनों में कार्य करते हुए अपना स्वाभिमान नहीं अनुभव करते कि " मैं यज्ञ में संमिलित हूं । " राष्ट्रीय महासभा के एक सभ्य को तथा प्रतिनिधि सभा के अधिकारी को गुरुकुल के एक कर्मचारी को अपने अपने संगठन के कर्तव्यों को करते हुए यह भाव सदा जागृत रखना चाहिये कि ' मैं यज्ञ कर रहा हूं । " इस यज्ञभावना के विना यज्ञ में श्रद्धा कैसे हो सकती है जो कि परम आवश्यक है । यह यज्ञभावना हो हमें बहुत ऊंचा उठा देगी और हमारे कार्य में, कर्तव्य पालन में तेज, बल और सौन्दर्य लादेगी। इस के साथ फिर यज्ञ की सफलता में श्रद्धा होनी चाहिये । चाहे कितनी विपरीत अवस्थायें हों यज्ञका सहारा न छोडना चाहिए और विश्वास स्थिर रखना चाहिये कि यज्ञ से अवश्य विजय

मिलेंगे । इष्ट काम अवश्य पूरा होगा । वेदों और उपनिषदों के मानने वालों को चाहिए कि वे यज्ञ की ही शरण लें तो उनके दुःख निश्चयसे ही निवृत्त होंगे । यह ठीक है कि हमारे संगठन जल्दी जल्दी बिगड जाते हैं और बिगडते भी रहेंगे, पर हमें घबरा कर यज्ञ को न छोड देना चाहिये । यह तो अमोघ अस्त्र है केवल इस में श्रद्धा और तज्जनित धैर्य चाहिए ।

(१०) यज्ञ के नियमों का अज्ञान ।

दूसरी बात है यज्ञ के नियमों का न जानना । यह एक घोर सचाई है, कि हम भारतवासी यज्ञों के चलाने के नियमों को-मिलकर काम करने के सिद्धान्तों को-कुछ भी नहीं जानते हैं। कारण स्पष्ट है कि हम ने संगठन बनाये हों या नहीं, इन्हें यज्ञ समझना भूल गये, अतः इनके नियमों का हमारे समाज में विकास नहीं हुआ । पाश्चात्य देशों में (यद्यपि वे यज्ञशब्दका प्रयोग नहीं करते) इन यज्ञों का बडा प्रचार हुआ और वे मिल कर काम करने की विद्या के नियमों को बहुत जान गए । अस्तु । आगे इस लेखमें इन्हीं नियमों को कुछ बतलाने का यत्न किया जायगा परन्तु असल में नियम व्यवहारमें आने से ही समझमें आते हैं, किताबों में लिखे रहने से कुछ नहीं होता । अतः विचारशील पाठकों से निवेदन है कि वे आगे लिखे यज्ञ के मोटे मोटे नियमों का ही पालन करें-व्यवहार में लाकर देखें (तब अन्य नियम इन्हें अपने आप दीखने लगेंगे) तो इनके संगठन अच्छी तरह चलने लगेंगे । हमें पूरा विश्वास है कि अपने पवित्र संगठनों को यज्ञ समझते हुए यदि हम इन निम्न नियमों का पालन करेंगे तो हमारी स्वराज की इच्छा ही नहीं पूरी होगी किन्तु हम भी सचमुच यज्ञ-

रूपी कामधेनुवाले हो जायेंगे और अपनी अतीव असम्भव दीखने वाली इच्छाओं को भी पूर्ण कर सकेंगे।

(११) यज्ञ पुरुष के तीन अंग।

यज्ञ के नियमों को जानने के लिए मेरी समझ में यज्ञके धात्वर्थ को ही समझ लेना बहुत है। (यज्ञ) शब्द में ही सब कुछ विद्यमान है। संस्कृत की धातुओं में कितनी उत्तमता है और पूर्णता है इसका शायद सर्वश्रेष्ठ उदाहरण यज्ञशब्द की 'यज्' धातुमें देखने को मिलता है। एक बार धातुपाठके रचयिता ऋषिके आगे सिर झुक जाता है और हृदयमें उन के लिए सम्मान का पद स्थिर हो जाता है। अस्तु। यज धातुका अर्थ है 'देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु'। यज् धातु के ये तीन अर्थ हैं।

(१) देवपूजा = देवकी पूजा।

(२) संगतिकरण = मिलना, मिले रहना।

(३) दान = देना।

मैं पहले बतला चुका हूं कि यज्ञका मुख्य अर्थ बीच के अर्थ में अर्थात् 'संगति करण' में है। यज्ञ अपने मध्य के अर्थ में केन्द्रित है। इसी लिए यज्ञ का स्वरूप मैंने बतलाया है "मिलना सम्बन्ध रखना, ठीक संबन्ध रखना" इत्यादि। परन्तु यह मिलना या सम्बन्ध तीन प्रकारसे हो सकता है, अतः यज् धातु के तदनुसार ऋषिने तीन ही उपर्युक्त अर्थ रक्खे हैं। मनुष्य का मनुष्य के साथ निम्न लिखित तीन प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है।

(१) अपने से बड़े के साथ सम्बन्ध जुड़े रहना।

(२) अपने बराबर वाले के साथ सम्बन्ध जुड़े रहना।

(३) अपने से छोटेके साथ सम्बन्ध जुड़े रहना।

यह तीन प्रकार का सम्बन्ध क्रमशः देवपूजा, संगतिकरण और दान का होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रत्येक संगठन के ३ विभाग हो सकते हैं। ये ही यज्ञके तीन अंग हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अपने से बड़ेके साथ, अपने बराबर वाले के साथ, अपने से छोटे के साथ क्रमशः देवपूजा के सम्बन्ध से, संगति करण के सम्बन्ध से, दान के संबंध से जुड़े रहने का नाम यज्ञ है। और स्पष्ट कहा जाय तो प्रत्येक संगठन में अपने से बड़ोंके साथ देववत पूजाका संबंध रहना चाहिए, अपने साथियोंके साथ सदा मिला रहना चाहिए और अपने से छोटोंको देते रहना चाहिए तब प्रत्येक संगठन ठीक तरह चलता रहेगा। बड़ों की पूजा हो, सेवा हो, उनका आज्ञापालन हो, इसीसे हम बड़ों के साथ जुड़े रह सकते हैं, इस में त्रुटि होने से यज्ञ ऊपर से भंग हो जाता है।

बराबर वालोंके साथ परस्पर मेल रहना चाहिए, प्रेम का आकर्षण होना चाहिए, मैत्री-स्नेह रहना चाहिये, नहीं तो यज्ञ मध्यसे टूट जायगा। और अपने से छोटों को सब कुछ देना चाहिये, कमी पूरी करते रहना चाहिए नहीं तो यज्ञ नीचे से गिर पडेगा। इस प्रकार इन तीन नियमों में ही सब कुछ आगया है। इसे विस्तार से समझने के लिए पाठक निम्न लिखित कोष्टक को ध्यान से देखें और आगे जो दूर तक इसकी व्याख्या की गई है उसे पढकर इस कोष्टक को अच्छी तरह हृदयंगम करलें तो वे यज्ञ के रहस्य को समझ जायेंगे।

१२ यज्ञ पुरुष ।

यज्ञ के तीन अंग — अंग	नाम	अंगोंका रस	अंगोंकी चेष्टा कर्म	एकएक अंगके रक्षक देव	एकएक अंगके नाशक असुर	यज्ञका प्राण	यज्ञका घातकशत्रु
उत्तमांग सिर	बड़ोंकी देवपूजा	भक्ति	आज्ञापालन अनुसरण	श्रद्धा ऋ१०-१५१ विश्वासी	अज्ञान अभिमान संदेह, काम आदि	बलि दान	स्वार्थ
मध्यमांग धड़	बराबरवालोंसे संगतिकरण	प्रेम	एकोद्देशसे तत्परता सहयोग	सांमनस्य अथ०३-३० परस्परमैत्री	ईर्ष्या द्वेष क्रोध द्रोह आदि	बलि दान	स्वार्थ
अधरांग नाभि से नीचेका भाग	छोटोंको दान	करुणा	सहायता, देना रक्षा करना	सोम, ओषधि ऋ. १०-९७ सहानुभूति	क्रूरता, अन्याय लोभ, मद आदि	बलि दान	स्वार्थ

१३ यज्ञ पुरुषके अंगोंका रस।

संसार में दो प्रकार की शक्तियां काम कर रही हैं। एक शक्ति मिलाने वाली है, दूसरी जुदा करनेवाली हैं। एक जोडने वाली, इकट्ठा करने वाली और दूसरी अलग अलग करने वाली, फोडने वाली है। इनका नाम भिन्न भिन्न दोन क्षेत्र में भिन्न भिन्न है। पर मानवी संसार में मिलने वाली शक्ति का नाम प्रेम है और जुदा करने वाली का नाम घृणा है। इन में पहिली शक्ति यज्ञिय और दूसरी अयज्ञिय है। जिन्हें यज्ञ करना है-मिलना है और-मिलाना है वे प्रेम को अपनाएंगे, जिन्हें यज्ञभंग करना है-लोगों को फाडना है-एक दूसरे को जुदा करना है वे घृणाकी पूजा करेंगे। अतः यज्ञ चाहने वाले भारत वासियों को प्रेम की उपासना करना चाहिए। प्रेमही यज्ञशरीर में "अंगिरस" है। यज्ञ के अंगों में वहने वाला रस है। प्रेम के ऱ्हास होने से यज्ञ सूख कर नष्ट हो जाता है। इस प्रेम रसके सूखने पर यज्ञ का प्राण (जो पाठक आगे देखेंगे) निकल जाता है। प्रेमके रस से यज्ञ का एक एक अणुअणु परस्पर जुडा रहता है। प्रेम मिलाने वाली शक्ति है और मिले हूए संगठन का नाम यज्ञ है। इसलिए 'प्रेम' यज्ञ का जीवन रस है।

पं० भगवानदास जी ने (The Science of the Emotions) नामक अपनी पुस्तकमें सब भावोंके (Emotion के) दो विभाग किए हैं (१) प्रेम मूलकभाव (२) घृणा मूलक भाव। फिर प्रत्येक के तीन तीन विभाग किए हैं। उसे यहां यज्ञ की व्याख्या में अवश्य स्मरण करना चाहिए। यज्ञ शरीर में वहने वाले रस का एक नाम प्रेम है परन्तु वह रस भिन्न भिन्न अवयवों में भिन्न भिन्न नाम से पुकारा जाता है। उत्तमांग में वह भक्ति है, मध्य

शरीर में प्रेम है और तृतीय भाग में करुणा है अर्थात् अपने से बड़े में प्रेम का नाम "भक्ति" है, अपने बराबरवाले में प्रेम "प्रेम" शब्द से ही कहा जाता है और छोटे में प्रेम करना "करुणा" कहलाता है।

इस प्रकार एक ही प्रेमरस यज्ञ शरीर के तीन अंगों में इन तीन रूप से बहता है और यज्ञ को सजीव रखता है।

यज्ञ का उत्तमाङ्ग अर्थात् देवपूजा तभी ठीक तरह काम करेगा यदि उस में भक्तिरस द्वारा हम अपने बड़ों का आदर सत्कार करते रहेंगे। यज्ञ का मध्य अर्थात् संगति करण तभी ठीक तरह काम करेगा यदि प्रेमका रस बराबर वालों में मेल बनाए रखेगा। और यज्ञ का अधराङ्ग अर्थात् दान तभी ठीक तरह काम करता रहेगा यदि करुणा रस से आर्द्र रहकर हम अपनेसे छोटों को सदा देते रहने में तत्पर रहेंगे (देखो कोष्ठक का दूसरा स्तम्भ)

१४ यज्ञ पुरुष के अंगों का व्यापार व कर्म।

परन्तु केवल (भक्ति आदि) भावों से काम नहीं चलेगा जब तक कि भावसे प्रेरित होकर कर्म न निकलेंगे, भाव कर्म के रूप में न प्रकट होंगे। इसी लिए यज्ञ में कर्म की मुख्यता है। शरीर के अपने कर्म को व्यापार व चेष्टा कहते हैं। इन भक्ति, प्रेम और करुणा द्वारा क्रमशः तीनों अंगों में जो कर्म होने चाहिए-जो व्यापार होने चाहिए- उन्हें कोष्ठक के तीसरे स्तम्भ में लिखा हुआ पाठक देखेंगे।

भक्ति प्रेरित हो यज्ञ के उत्तमांग में बड़ों का आज्ञापालन तथा उन का अनुसरण (नेतृत्वस्वीकार) यह चेष्टा होनी चाहिये। प्रेम प्रेरित हो यज्ञ के मध्यमांग में एकोद्देश्य से मिलकर काम करना, सहोद्योग यह चेष्टा उत्पन्न होनी चाहिए तथा करुणाप्रेरित हो यज्ञ-

के तृतीयांग में दान द्वारा छोटों की सब प्रकारसे सहायता करना, उनकी रक्षा करना यह चेष्टा व कर्म होता रहना चाहिए।

देवपूजाका अर्थ वाचिक या मानसिक ही नहीं है। यज्ञ में तो कर्म मुख्य है। इस लिए बड़ों की पूजा जब भी की जावेगी, बड़ों को पूजा क्रियामें आएगी तब वह "उन का आज्ञापालन, उनकी शिक्षा मानना, उनका अनुसरण करना" इन रूपों में ही प्रकट होगी। एवं क्रियात्मक संगति करण "एकोद्देश्यता से चलने, परस्पर मिलकर सहोद्योग" के रूपमें ही प्रकट होगा। और दान का अर्थ कुछ हो दे देना नहीं है किन्तु छोटों को उनकी आवश्यकता जान कर उसकी पूर्त्यर्थ देना, छोटों को कष्टोंसे रक्षा करने की चिन्ता रखना और सदा सहायता देते रहना है। यज्ञका दान अंग इसी रूपमें अपना काम करता हुआ प्रकट होगा।

यह यज्ञ के तीन अंगों के तीन व्यापार हैं जो कि स्वस्थ यज्ञ शरीरमें होते रहने चाहिए। यदि ये व्यापार होते ही नहीं या ठीक तरह न होकर विपरीत प्रकार से होते हैं तो समझना चाहिए कि यज्ञ शरीरमें कोई रोग है। इन रोगोंका इलाज करना चाहिए जिस से कि शरीर के ये तीनों अंग उपरिनिर्दिष्ट अपने अपने व्यापार (Function) ठीक प्रकार करते रहें।

१५ यज्ञ के उत्तमांग में त्रुटि।

यज्ञांगों में बहने वाला रस जान लेने के बाद तथा यज्ञका प्रत्येक अंग का व्यापार समझ लेने के बाद अब यह सुगमता से जाना जा सकता है कि हम भारतवासियोंके यज्ञ क्यों नहीं चलते। इसका कारण यज्ञ के किसी अंगके कार्य में त्रुटि होना है। ये रोग हमें हटाने पड़ेंगे, यदि हम भारतमें यज्ञों को चलाना चाहते हैं।

पहले यज्ञके प्रथम अंग - देवपूजा - की त्रुटियां देखिए। या तो अपने संगठनों के बडों में हमारी भक्ति नहीं होती (हम उन्हें योंही स्वीकार कर लेते हैं) या हमारी भक्ति बीमार होती है जो कि आज्ञापालन के रूपमें प्रकट नहीं होती। म. गान्धीके (जो कि राष्ट्रमहासभाके यज्ञमें देववत् पूज्य हैं) दर्शन करने के लिए सहस्त्रों लोग आते हैं - उन्हें रातको नींद भी नहीं लेने देते, परन्तु वे न तो खद्दर पहनते हैं और न उन की अन्य आज्ञाओंका पालन करते हैं। इस का नाम देवपूजा नहीं है। यह तो घोर देव निन्दा है। पर हम लोगों की अकल में यह बात नहीं आती है। नेताका आज्ञापालन तथा अनुसरण में जिस नियंत्रण, तंत्र निष्ठा की जरूरत है उस का ' क ख ' भी हमने अभी नहीं सीखा है। यदि गत वर्षों के स्वराज्य आन्दोलन में (और अबभी) हम राष्ट्रमहासभाकी केवल खद्दर धारण और खद्दर की उत्पत्ति की आज्ञा का जी जान से पालन करते तो अबतक बहुत कृतकार्य होचुके होते, न जाने कहां पहुंचे होते। पर यहां तो काम शुरू नहीं हुआ। देवपूजा की जगह हम अपना मनमाना करते रहे। एक वक्ता ने बहुत सच कहा था कि लायड जार्ज जैसे मिथ्याचारी, मिथ्यावादी पुरुष के नेतृत्वमें इंग्लैण्ड ने महासमरमें विजय पा ली, परन्तु महात्मा गांधी जैसे सच्चे दिव्य पुरुष को पाकर भी भारत वासी कृतकार्य न होसके, इसका कारण है (Organisation) संगठन का अभाव। परन्तु वैदिक शब्दों में मैं कहूंगा कि इसका कारण है " यज्ञ का अभाव, यज्ञमें भी देवपूजा अंगका अभाव। " बिलकुल सैनिकों की तरह आज्ञापालन को न करते हुए अपने को देवपूजक समझना कोरी मूर्खता है जो कि जितनी शीघ्र हट जाय उतनाही अच्छा है। घोर युद्ध के अवसरपर भोजन की कमी पूरी करने के लिए अंग्रेज

लोगों को कहा गया कि अपने घरों के छोटे छोटे आंगनों में आल यो दो, उन्हों ने बोए और यह मूर्खता युक्त प्रश्न न उठाया कि आंगन की ज़रा सी भूमि के थोडेसे आलुओंसे क्या लाभ होगा। परन्तु भारतवासी पूछते हैं कि चर्खे के जरासे सूत से क्या होगा? कई पूछते हैं मेरे थोडासा कातने से क्या होगा? केवल पूछते ही नहीं, किन्तु कार्य करना भी नहीं शुरू करते। यह है भेद हम में और यज्ञ का महत्त्व समझने वाले अंग्रेजों में। वहां बचपन से आज्ञापालन सिखाया जाता है। वहां के लोगों ने आत्मार्पण करते हुए " आज्ञापालन" अङ्ग की साधना की है। वहां कैसे विग्रेन्का जैसे बालक पैदा होते हैं। आज्ञा के न मिलने के कारण जल मरना तो दूर रहा, हम तो अपने संगठन की आज्ञा को थोडे से स्वार्थ के लिए तोड देते हैं और तोडनेका कारण प्रायः धार्मिक (?) बताते हैं बहुतों को जरासी बात में अन्तःकरण (Conscience) बोलने लगता है। ऐसे कार्य करते हुए हम सचमुच समझते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं, जब कि असल में हम यज्ञ भंग का भारी पाप कर रहे होते हैं। यदि हमने अपनी वर्तमान अवस्थासे उठना है तो हमें यज्ञ धर्म को समझना होगा और अपने अन्तःकरणों को विशाल बनाना होगा। मतभेद होने के कारण आज्ञाभंग का अधिकार प्राप्त कर लेना वहां का धर्म है। वेद में तो संग्रामवाचक शब्द तथा यज्ञवाचक शब्द बहुत कुछ एक ही हैं। इसका एक अर्थ यह समझा जा सकता है कि यज्ञ में संग्राम जैसा नियंत्रण (Discipline) होना चाहिए। संग्राम यज्ञ में यदि सेनापति देव की आज्ञा पालन द्वारा पूजा न की जाय तो यह यज्ञ कैसे चल सकता है। राष्ट्रयज्ञ में यदि राजा की आज्ञाओंका पालन न हो तो राष्ट्र कैसे जिवंत रह सकता है। परन्तु गुलाम भारतवासियों को सैनिकों की तरह विना "कथं

किमर्थं" के आज्ञा पालन करने में गौरव की जगह बन्धन दिखाई देता है। और वह भी अपने बनाए नेता के अपने राजाके आज्ञा पालन में। हमें यह सैनिकीय आज्ञापालन भेड चाल दिखाई देता है, इसी लिए हम पराये राजा द्वारा भेडों की तरह हांके जाते हैं। यदि हम अपने बनाए राजा का आज्ञापालन सीख जांय तो हम ही सैनिक हो जांय। ग्रामों में जहां पुरानी पंचायतों का रिवाज बिगडा नहीं है वहां तो अब भी (जो कि बहुत ही विरले उदाहरण हैं) "पांचों में परमेश्वर" मानकर लोग पंचायत की कठोर से कठोर आज्ञाको भी पालन कर देते हैं, परन्तु साधारणतया आज कल की सभाओं और सम्मेलनों में देखा जाता है कि सभापति वक्ता को बोलने से बन्द करते हैं, पर वक्ता बोलता जाता है: सभापति चुप होने को कहता है पर लोग शोर करते रहते हैं। बल्कि कई लोग रोके जाने के कारण सभापतिसे नाराज हो जाते हैं। भला वहां नाराजगी का क्या काम? इस सब का कारण यह है कि हम सभ्य, साम्मित्य नहीं हुए हैं यज्ञार्ह नहीं हैं बडे हुए नहीं हैं। हमें घड कर अपने आपको यज्ञार्ह बनना चाहिए। पहलेही अपने सभापति को खूब सोच विचार कर चुनना चाहिए, पर जब वह सभापति चुना गया और जब तक है तब तक यदि उस देव पूज्य का आज्ञापालन न हो तो काम कैसे चल सकता है। यह तो आत्महत्या होगई। अपने यज्ञ का अपने आप नाश करना है। कुटुम्ब यज्ञ में बालक माता पिता के आदेशों को न मानें, गुरु शिष्य यज्ञ में शिष्य गुरु वचनों को न मानें तो इन यज्ञों का क्या हाल होगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक यज्ञ में आज्ञापालन आवश्यक है, इस के बिना यज्ञ का पहला ही अंग नहीं चल सकता। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अपने नेता का आज्ञापालन अर्थात

भक्तिसे, सच्चे दिलसे उस के पीछे चलना ही देव पूजा है यज्ञ के प्रथम अंग का कर्म है ।

१६ यज्ञ के मध्याङ्ग में त्रुटि ।

अब भारत वर्ष के यज्ञोंके मध्याङ्ग की अवस्था सुनिए! यज्ञ का यह मध्यभाग प्रायः सभी संगठनों में बडा है, क्यों कि उन में बडे तथा प्रायः छोटे भी थोडे होते हैं और बराबर वाले बहुत होते हैं तथा क्यों कि प्रायः सभी संगठनों में बडे और छोटे का सम्बन्ध विशेष अवसरों पर होता है और बराबर का सम्बन्ध प्रायः सदा रहता है। उत्तमांग से तो यह अवश्यही बडा होता है। अतः इसे ठीक रखना बहुत आवश्यक है। यह ठीक रहे, फिर यदि ऊपर नीचे का भाग कुछ बिगड जाय तो वह शीघ्र ही सुधर सकता है। यह मध्य अंग का महत्त्व है। अतः मध्य अंग के स्वास्थ्य के लिए संगठन में के सब सभ्योंको परस्पर प्रेमसे जुडे रहना चाहिए और एकोद्देश्य में तत्पर रहना चाहिए। उन सबको जोडने वाली एक वस्तु संगठनका उद्देश्य होता है। जैसे कि भारतीय राष्ट्रमहासभा के सभ्यों को जोडने वाला देश प्रेम है, आर्य समाज सभासदों को जोडनेवाला वैदिक धर्म है, एक संग्राम के सैनिकों को जोडने वाला शत्रुपर विजय पाने का उनका उद्देश्य है, एवं एक शिक्षणालय के छात्रों को परस्पर जोडनेवाली उस शिक्षणालय का विशेष शिक्षण या विद्या होती है।

इस जोडने वाले एकोद्देश्य को जब कोई सभ्य भूलता है या इसे गौण कर देता है तभी वह अपने कर्मद्वारा यज्ञ को हानि पहुंचाता है। इस संयोजक वस्तु को वेद में 'यज्ञ तन्तु' कहा गया है। यह यज्ञ तन्तु कभी नहीं टूटना चाहिए। इस तन्तु से यज्ञ के सब सभ्य

जुडे होते हैं। परन्तु हमारा यह यज्ञतन्तु इतना ढीला होता है कि अन्य छोटी छोटी बातें इसके ऊपर हो जाती हैं और यज्ञ का लोप कर देती हैं। हिन्दु और मुसल्मान आपसमें लडते हैं क्यों कि देशप्रेम के तन्तु से अपने आपको नहीं जोडते, इस यज्ञ तन्तु के सामने अन्य गौण बातों को मुख्यता दे देते हैं और इसीलिए राष्ट्रीय महासभा का यज्ञ छिन्न भिन्न हो जाता है। दो आर्य समाजी सभासद आपस में ही लडते हैं; वैदिक धर्म का तन्तु उन्हें जोडने में असमर्थ रहता है, क्यों कि वे अन्य वैयक्तिक बातोंको मुख्यता दे देते हैं और फलतः आर्यसमाजके यज्ञ को हानि पहुंचती है। यज्ञ के लिए सब सभ्यों को एकोद्देश्य में तत्पर रह कर सहोद्योग करना चाहिये, परंतु हम सहोद्योग तब तक नहीं कर सकते जब तक पहले हम एकोद्देश्य से जुड कर एक न हो जांय। इसी लिए अथर्ववेद के सांमनस्य (३ - ३०) सूक्त में जहां "सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा" होने को कहा गया है वहां कहा है कि 'समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि' अर्थात् मैं तुझे एक जूए में जोडता हूं। इस सूक्त में तथा ऋग्वेद के प्रसिद्ध "संगच्छध्वं संवदध्वं" वाले सूक्त में यज्ञके मध्याङ्ग का कार्य बहुत ही अच्छी तरह बताया गया है। भारतवासियों को यह उपदेश न जाने कब तक समझमें नहीं आवेगा। "सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (अथर्व १९-६-१) यह यदि यज्ञ पुरुष का ही वर्णन नहीं है तो यज्ञपुरुष का भी तो है ही। क्याही सुन्दर दृश्य हो, जब कि सहस्रों बाहुएं मिल कर एक ही उद्योग कर रही हों। राष्ट्रपति की आज्ञासे यदि राष्ट्र शरीरके सहस्रों हाथ सूत निकलने में ही लग जांय तो क्या हम अपना एक कार्यक्रम पूरा नहीं कर सकते। भारत राष्ट्र - पुरुष के तो ६० करोड हाथ हैं। पर रोना यही है कि हमारी धर्म पुस्तक

में चाहे कुछ लिखा पडा हो, पर उस का करना और बात है। हम से यह बनता नहीं कि किसी उच्च प्रेमसे प्रेरित हो मिल कर किसी रूपमें जुड जांय। यदि कहीं कहीं जुडते हैं और यज्ञ के "संगति करण" अंग को बनाते हैं तो यह अंग इतना निर्बल या रुग्ण होता है कि इस से 'सहोद्योग' कांपते हुए नहीं के बराबर निकलता है। फूट, नाना प्रकार के भेद ही सर्वत्र दिखाई देते हैं। इन भेदों को भी जोडने वाला यज्ञ तन्तु कहीं कहीं ही टूटा फूटा दिखाई देता है। नाना मत तो योरोप में भी पाश्चात्य लोगों में भी हैं। वहां तो पति और पत्नी भिन्न भिन्न गिरजों में जाते हैं। वहां के (यथा इंग्लेण्ड में) राष्ट्र कार्य में भी बहुत से दल हैं। वे पर राष्ट्र कार्य को सदा ऐकमत्य से ही करते हैं। और बातों में चाहे कितना मतभेद रहे पर वे देश कार्य के लिए सब एक हैं। अतः उनका अपना अपना राष्ट्र पुरुष संसार में एक बलवती सत्ता रखता है। उन का देश प्रेम का तन्तु अन्य बातों से नहीं टूटता। गत महायुद्ध में इंग्लेण्ड वासियों ने कितना मिलकर काम किया, उस की कथा हमारे लिये आश्चर्यकर है परन्तु जर्मन लोगों का सहोद्योग इन सभी बढकर था। उन्हों ने तो मानो अक्षरशः "संगच्छध्वं संवदध्वं" का पालन किया था। फिर भी उन की हार क्यों हुई यह और बात है। इस का भी वर्णन आगे आजायगा। यह तो स्पष्ट है कि हम में तो इतने जोर से लडने की भी सामर्थ्य नहीं है। उन को पुरुष बनाने वाली और सामर्थ्य देने वाली सम्मेलन शक्ति हमारे लिए सदा ही अनुकरणीय है। अस्तु। सारांश यह है कि यज्ञ का मध्य अंग (जो कि बहुत बडा भाग होता है) तभी ठीक तरह चल सकता है जब कि उस के सब सभ्य एकोद्देश्यता में तत्पर होकर सहोद्योग करते रहें, यही इस अंग के स्वास्थ्य का चिन्ह है

१७ यज्ञ के आधाराङ्ग में त्रुटि।

इसी प्रकार यज्ञ का "दान" अंग जो कि आधार अंग है मुर्दा हो जायेगा, यदि हम अपने संगठन में निर्बलों को, छोटे भाइयों को सदा सहायता प्रदान न करते रहेंगे। छोटों के साथ अपना संवन्ध ठीक रखने के लिए उन्हें अपने साथ जुडा रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें धन देकर, वल देकर, ज्ञान देकर जो उन की कमी हो उसे पूरा करते रहें। संगठन के, यज्ञ के ऊंचे लोग जव घमण्ड में आकर, अपनी शक्ति के नशे में मस्त होकर अपने छोटे हीन भाइयों को भूल जाते हैं और यज्ञ शरीर में करुणा के जीवन रस का प्रवाह वन्द हो जाता है तो आधार से ही यज्ञ का भंग हो जाता है। क्या हम नहीं देखते कि भारत के पददलित अछूतों के कारण भारत का राष्ट्रीय यज्ञ वीचमें ही पडा हुआ है। इन बिचारों की दशा किन्हीं स्वामीहीन पालतू पशुओंसे भी अधिक शोचनीय है, परन्तु भारतीय हिन्दुओं के हृदय इस पर भी नहीं पिघलते। देश और जाति के इन आधारों को जवतक हम अपने सर्वविध दान कर्म से तृप्त न कर लेंगे तवतक हमारा हिन्दू संगठन और देश संगठनका यज्ञ आगे नहीं वढ सकता। इसी प्रकार हमारे देश में ज्ञान में छोटे पुरुष वहुत हैं, हम में अक्षर ज्ञान ही वहुत थोडा है, जहां अन्यदेशों में ९५, ९९ प्रतिशतक शिक्षित होते हैं वहां इस देशमें ५ प्रतिशतक शिक्षित कहे जा सकते हैं। इस ज्ञान दान की कमी के कारण हमें कितनी कठिनाइयां हैं यह सब भारतके यज्ञप्रिय पुरुष अनुभव करते हैं। परन्तु इस से भी पहले तो धनका दान आवश्यक है, क्यों कि इस देशमें निर्धनता के कारण भूखे मरने वालों की संख्या हृदय विदारक है भूखे को ज्ञान और उपदेश तो पोछे चाहिए, पहले भोजन चाहिए।

इस देश में दस लाख मनुष्य प्राणी ऐसे हैं जिन्हें कि एकबारही सूखी रोटी नसीब होती है और एक दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मर जाते हैं! बहुतों को वास्तव में इन संख्याओं पर विश्वास नहीं होता है, अत एव वे निश्चिन्त रहते हैं। परन्तु करुणा मूर्ति महात्मा गांधी इसी चिन्ता से चर्खेपर पागल हुए हुए हैं और चर्खे के प्रचार की इतनी आवश्यकता अनुभव करते हैं। चर्खा प्रचार अपना अन्य फल पीछे लायगा, पहिले यज्ञ के तीसरे 'दान' अधराङ्ग को चलता करने के लिये इस में प्राण डालेगा। अस्तु। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक संगठन में जो जिस बातमें बडा हो उस का कर्तव्य है कि अपने से छोटों को वह वस्तु देने के लिए न केवल सदा तत्पर रहे, किन्तु उसकी कमी को स्वयं यत्न से जानकर पूरा करता रहे। एवं ज्ञानियों को अपना ज्ञान देना चाहिए और बलवानों को अपने बल से निर्बलों की सहायता करनी चाहिए। धनियों को अपना धन छोडना चाहिये और शूद्रों को शारीरिक श्रम की अपनी सेवा का दान करना चाहिए। ठीक तरह काम करते हुए यज्ञ के आधारांग का यही स्वरूप है।

यह यज्ञ आधार अंग है। जिस संगठन में छोटे आवश्यक दान पाकर तैयार नहीं होते रहते वह संगठन समझना चाहिए कि जड सूख रहा है। भारत ने छोटों की उपेक्षा की अतः छोटे बढते गए और सामूहिक रूप से सारा देश ही हर एक बात में छोटा रह गया है। पाश्चात्यों के राष्ट्र यज्ञ में यदि कोई त्रुटी है तो वह आधाराङ्ग में ही है। वहां सब बातों में नहीं तो धन में तो बडों ने छोटों की उपेक्षा की है। वहां धनियों और निर्धनों का बहुत फर्क है। अत एव वहां 'सोशियलिज्म्' 'बौल्शेविज्म' (Bo-

cialism, Bolshevism) आदि रोग अथवा रोग को दूर करने की स्वाभाविक चेष्टाएं (जो कि वास्तव में सब रोग होते हैं) उत्पन्न हुई और उन से सारे राष्ट्र शरीर को दुःख भोगना पडा। गत महासमर में रूस को इसी विपत्ति के कारण युद्ध से जुदा होना पडा तथा जर्मनी शिथिल पड जाने के कारण भी उस के अन्दर साम्यवादियों (Socialists) का जोर हो जाना था। अतः इस आधाराङ्ग का हमें विशेष ध्यान रखना जाहिए, विशेषतया हम में से उन भाइयों को जो हरबात में पाश्चात्यों का अनुसरण करना लाभदायक समझते हैं । अस्तु ।

आशा है अब पाठक बहुत कुछ समझ गए होंगे कि हमारे यज्ञ किन किन त्रुटियों के कारण असफल रह जाते हैं ।

१८ यज्ञ के देव और असुर।

परन्तु ये त्रुटियां क्यों होती हैं, और इनको हटाया कैसे जा सकता है ? इसका उत्तर है कि यज्ञ के देवों और असुरों में सदा यह द्वन्द्व होता रहता है जब असुरोंका पगडा भारी होता है तब यज्ञ में उतनी त्रुटि रह जाती है और जब देवों की विजय होती रहती है तब यज्ञ पूरा पूरा चलता है; अतः त्रुटिओंके हटाने का उपाय है कि देवों की ही लगातार विजय रखीजाय। ये देव असुर कहीं बाहर नहीं हैं, ये अन्दर हैं और हमारे हृदय के अन्दर हैं। देवासुर संग्राम की रणस्थली यज्ञकर्त्ता मनुष्य का हृदय ही है। यदि यह बात पाठकों को कुछ विचित्र लगती हो तो उन्हें भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में दैव और आसुर संपदोंका वर्णन पढलेना चाहिए। अस्तु । इस यज्ञ में देव कौन हैं जिनसे कि यज्ञ बढता है और असुर कौन हैं जिनसे कि यज्ञ की रक्षा करनी चाहिए यह पाठक कोष्ठक के चौथे पांचवें स्तम्भ में देखेंगे ।

यज्ञ के उत्तमांग में 'श्रद्धा' देवता है और इसके विरोधी असुर हैं अज्ञान, अभिमान, सन्देह, काम आदि। देवपूजा अंग को निर्विघ्न चलाने के लिए हमें अपने हृदयों में 'श्रद्धा' को आसनारूढ करना होगा। यज्ञ के बडों में, नेता में यदि श्रद्धा नहीं तो उसका पूजन, उसका आज्ञापालन आदि कर्म कैसे हो सकता है। जहां नेताको चुनना हमारे हाथ में है, तब अवश्य हमें ऐसा ही पुरुष चुनना चाहिए जिसमें हमारी श्रद्धा हो। दौर्भाग्य से किसी समाज में यदि कोई भी पुरुष श्रद्धनीय नहीं है तो वहां यज्ञ चल ही नहीं सकता। प्रत्येक दशामें अपने बडों में श्रद्धा आवश्यक है। नेता लोग कई वार ऐसे काम करेंगे जो कि हमें अच्छी तरह समझ में न आवें तो उनमें एक दम श्रद्धा छोड देना बडी मूर्खता होगी। गुरु शिष्य यज्ञ में शिष्यों को, या गृहस्थ यज्ञ में पुत्रों को, बहुत वार अपने स्वाभाविक अज्ञान के कारण अपने आचार्य या माता पिता की बातें बुरी और अहित कर लगती हैं परन्तु यदि वे इससे उनमें श्रद्धा छोड कर मनमाना करें तो कितना अनर्थ होगा। ऐसी अवस्था में उन्हें यही उचित होता है कि वे अपने बडों के पास जावें और नम्र होकर अपना अज्ञान दूर करने का यत्न करें; न कि 'श्रद्धा' देवता की शरण छोड दें। 'श्रद्धा' ही बालकों अज्ञानियों, निर्बलों, असहायों अर्थात् सब छोटों की एकमात्र रक्षिका देवता है। परन्तु इस देवता को पदच्युत कर अपना राज्य स्थापित करने के लिये अज्ञानादि असुर सदा जोर करते रहते हैं। श्रद्धा को स्थिर रखने की इच्छावाले यज्ञ प्रिय को सदा इस से लगातार लडना पडता है। अज्ञान ऐसा भ्रमाता है कि छोटे को अपना हित अहित दिखाई देने लगता है। सन्देह आकर आज्ञा पालन नहीं करने देती।

'अभिमान' के वश हो जाता है। तो कहता है कि 'क्या यही सब कुछ जानता है "यह बात तो स्पष्ट हानिकारक है" अभिमान का रंग और चढता है तो वह पूजा की जगह देव का तिरस्कार करने में नहीं झिझकता। 'काम' अर्थात् अपने विषय की तीव्र इच्छा उसे और भी कर्तव्याकर्तव्य विचार के अयोग्य बना देती है।

इस प्रकार श्रद्धा का आसन डोल जाता है। इसे स्थिर रखना ही यह कर्ता की वीरता है। जिस पुरुष की हृदयस्थली पर इस युद्ध में सदा 'श्रद्धा' देवता की ही विजय रहती है वही पुरुष यज्ञ के उत्तमांग में सम्मिलित होनेके योग्य है।

यज्ञके मध्यमांग में 'साम्मनस' देवता है जो कि इस अंगमें सम्मिलित सब पुरुषों को अपने हृदयों में बिठलानी चाहिए। परन्तु इसकी जगह छीनने के लिए ईर्ष्या आदि असुर चारों तरह सदा चक्कर लगाते रहते हैं। इन से सावधान रहना चाहिए। यदि 'ईर्ष्या' को हृदय राज्य में थोडासाभी स्थान मिल गया तो वह हमारी आंख ऐसी फेर देती है कि हमें अपने भाई की बढती देखकर आनन्दकी जगह दुःख होने लगता है। अब प्रेम की जगह 'द्वेष' असुर ले लेता है। जहां इन दो असुरों का प्रवेश हुआ तो 'क्रोध' महासुर की विकराल मूर्ति अपना काम दिखाने लगती है और भारत माता के दो पुत्र आपस में एक दूसरेका सिर फोडने लगते हैं क्यों कि वे हिन्दु और मुसल्मान हैं। धीरे धीरे इतनी आसुरी माया छा. जाती है कि वे भाई एक दूसरों को धोका दे देकर नाश करना चाहते हैं और 'द्रोह' की फौजें आ खडी होती हैं। इस

प्रकार 'यज्ञ' नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। पाठक अपने अपने संगठनों में स्वयं इस देवासुर संग्राम को अनुभव करें। यहां तो यही कहना है कि युद्ध में 'साम्मनस' देवता की ही विजय होनी चाहिए। कोई चाहे कितना यत्न करे अपने साथियों को कभी न छोडना चाहिए। अपना साथी चाहे स्वयं प्रतीत हो, प्रेम न रक्खे, हानि भी पहुंचाये तो भी उससे मन मिलाए रखना चाहिए। वैयक्तिक हानि चाहे कितनी हो, पर यज्ञतन्तु को न टूटने देना चाहिए। अन्त में निश्चयसे "साम्मनस" देवको ही विजय होगी। यदि हम विचारेंगे कि "इसकी वृद्धि में तो मुझे प्रसन्न होना चाहिए, यह मुझे कष्ट देगा तो वह भी मैं प्रेम से सह लूंगा, अन्ततः यह मेरा भाई ही है" तो इन भावना ओं द्वारा हमारे पवित्र उद्देश्य प्रेम के तेजसे ईर्ष्या द्वेष आदि सब असुर भस्मीभूत हो जाएंगे और यज्ञ निर्विघ्न चलता हुआ बढता जायगा।

एवं यज्ञ के तीसरे अंग के देवता का नाम "ओषधी या सोम" कहा जा सकता है। इनका अर्थ है दूसरों के कष्ट निवारण करने या दूसरों की कमी पूरी करके तृप्त करने वाली देवता। इसका तात्पर्य है हृदय में सहानुभूतिका राज्य होना। परन्तु इस राज्य के मुकाबले में विरोध का झण्डा खडा करने वाले क्रूरता आदि राक्षसभी विद्यमान हैं। क्रूरता राक्षसी जब आती है तो हृदय में से दयास्रोत निकलना बन्द हो जाता है। इसी लिए हिन्दु चमारोंको ऊपर से गालियां देते हैं, इसकी जगह कि उन्हें गढ्ढों का सडा पानी पीते देखकर तरस खावें। इस क्रूरता राक्षसी को और पोषण मिलता है जब कि

'अन्याय' साथ मिल जाता है, क्यों कि "अन्यायासुर" हमें देखने ही नहीं देता कि हमारे छोटे भाइयों की बुरी दशा है। देश में विरले ही पुरुष हैं जो कि अपने देश की गरीबी आदि कमियों को अनुभव करते हैं। 'मद' भी आजाय तब तो कहना ही क्या है। तब तो पड़ोसी घरका आर्तनादभी सुनाई नहीं देता और पैरों तले रौंदे जाते अपने भाई की चीखें निकलवाना उनका मनोविनोद होता है। ऐसे 'मद' मस्तों की भी हमारे देश में कमी नहीं है। परन्तु 'लोभासुर' के वश होने वाले तो इस देश में बहुत से भले आदमी हैं जो कि अपने छोटों को कुछ देने की जगह उन से रिश्वतें लेते हैं, बेगार लेते हैं और न जानते क्या छीना झपटा करते हैं। इस प्रकार हमारे हृदयों में से 'सोम' देवता का राज्य लगभग सब छिन जा चुका है जिसे कि हमने फिर स्थापित करना है यदि हम अमने देश के यज्ञों का समूल नाश नहीं कर देना चाहते हैं। हमें इस देवता की विशेष आराधना करनी चाहिए और अपने में करुणा, दया का पूर्णतया उदय करना चाहिए, जिससे कि क्रूरता, अन्याय, लोभ, मद आदि असुरों का सर्वथा पराजय होकर हृदय में सहानुभूति का राज्य जम जाय। तभी यज्ञ के आधारांग की रक्षा हो सकती है।

इस प्रकार अब तक हम यह समझ गए होंगे कि यदि यज्ञ के इन तीनों अंगों में उपर्युक्त तीनों देवताओं का निर्विघ्न राज्य रख जाय तो यज्ञ स्वयमेव ठीकठीक चलता रहेगा। परन्तु इन देवताओंका राज्य स्थिर करने का उपाय क्या है यह भी बात हमें जान लेनी चाहिए।

१९ यज्ञ का प्राण।

यज्ञ की सब से आवश्यक वस्तु का वर्णन तो अभी रहता ही है। यज्ञ के इन बाधक असुरोंका निरन्तर हनन करने वाला अस्त्र

क्या है? देवों का राज्य स्थिर रखने वाली वस्तु क्या है? अथवा यज्ञ के देवपूजादि अंगों को निरन्तर जीवित रखने वाली वस्तु क्या है? यह है आत्मवलिदान (Sacrifice) स्वार्थत्याग। यह यज्ञका प्राण है। जैसे प्राण शरीरमें सब से बडी देवता है, वैसेही यज्ञ शरीर में सब देवों का महादेव यही 'वलिदान' है। इस लिए इसके उत्क्रान्त होने से श्रद्धा आदि सब देव उत्क्रान्त हो जाते हैं और इस के स्थापित होने से स्थापित हो जाते हैं। इसे यज्ञ की आत्मा भी कह सकते हैं। यह यज्ञ का सब कुछ है। क्यों कि इस के विना यज्ञ केवल मृतवत् है, लाश है। इसी लिए कई विद्वान् यज्ञ शब्द का अर्थ ही 'वलिदान' (Sacrifice) किया करते हैं। यह वहुत हद्तक ठीक है, क्यों कि वलिदान के विना यज्ञ कुछ देर भी जीवित नहीं रह सकता। जैसे कि जीवित पुरुप में प्राण प्रश्वास के रूप में निरन्तर चलती रहती है और पुरुप को जीवित रखता है, एवं यज्ञ के जीवन के लिए भी यह आवश्यक है कि उस में 'वलिदान' निरन्तर चलता रहे। इसी लिए वाहर के अग्नि होत्र आदि यज्ञ में भी एक एक मंत्र पढकर 'स्वाहा स्वाहा' करते हुए ही यज्ञ चलाना होता है। यह 'स्वाहा' ही यज्ञ की जान है। (देखो स्तंभ ६)

यज्ञांगों की इतनी मीमांसा पूर्व प्रकरणों में हो जाने के वाद अव पाठक गण प्रत्येक अंग में वलिदान के प्राणत्व को स्वयं सुगमता से देख सकते हैं। (१) उत्तमांग में जव आज्ञा पालन तथा अनुसरण का व्यापार होता है। तव प्रत्येक व्यापार में कुछ न कुछ वलिदान करना होता है। उस एक आज्ञप्त इच्छा के अतिरिक्त शेप सव इच्छाओं का, शेष सव वातों का वलिदान करना होता है। प्रायः अपने सुख या आराम की इच्छा, अपने किसी विषय

की इच्छा इस आज्ञप्त इच्छा के विरोध में खडी होती है और इस के खडे करने वाले होते हैं हमारे पूर्व परिचित असुर। पर यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस आज्ञप्त इच्छा के सामने अन्य सब विरोधी इच्छायें हीन हैं, पशु हैं, विघ्न हैं, इन को तुरन्त वलि चढा देना चाहिए। यदि हम इच्छा रूप में विचार रूप में विद्यमान इन को वलि न कर देंगे तो इन के कर्म रूप में आजाने पर इन का बलिदान करना वडा कठिन हो जायगा और यज्ञ को हानि तो पहुंच ही जायेगी। उदाहरणार्थ कभी "अज्ञान" और "अभिमान" के असुर यह विरोधी विचार खडा करते हैं कि "यह आज्ञा अशुद्ध है, सेनापति की इस वात से अधिक अच्छी वात तो फलानी है, क्या हम में अकल ही नहीं ... है"। परन्तु सच्चा याज्ञिक इन सब विरोधी विचारोंको श्रद्धा की अग्निमें स्वाहा करदेता है और इस आहुति द्वारा श्रद्धा की अग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो जाती है। कभी मन कहता है "सभा की यह वात इतनी अशुद्ध है कि मेरे अन्तःकरण की आवाज इसे करने से रोकती है।' परन्तु पीछे ज्ञात होता है कि यह भी "अज्ञान" असुर की करतूत है और वह अपने अन्तःकरण की झूठी आवाज का भी वलिदान देता है। इस प्रकार यदि विचारावस्था में ही पशु भावोंका स्वाहा होता जाय तो यह स्वाभाविक तौर पर बढता जाता है। यज्ञ के प्रत्येक अङ्ग का जीवन यज्ञकर्ताओं की वलिदान शक्ति पर निर्भर है। वे निरन्तर बलिदान कर सकते हैं या नहीं इस वात पर निर्भर है। प्रत्येक आज्ञापालन में और अनुसरण में भिन्न भिन्न प्रकार के विरोधी विचार आते रहेंगे उनका निरन्तर स्वाहा करते रहना ही यज्ञ को जीवित रखना है। एकवार जोश में आकर बलिदान करना और बात है तथा निरन्तर बलिदान करना और वात है। दूसरी अवस्था ही यज्ञ का जीवन है। पहिली अवस्था तो किसी

कृत्रिम उपायों से थोड़ी देर के लिए श्वास चला देने के तुल्य है। हमने भी असहयोग के दिनों में बलिदान किए हैं, कइयों ने राष्ट्र की आज्ञा पाकर करोड़ों की आमदनी और भोगविलास का बलिदान कर दिया, हजारों ने जेलमें जाकर अपने घर के सुखोंका बलिदान कर दिया। किन्तु यदि यह सब हमारा बलिदान स्थिर नहीं है तो यह हमारे राष्ट्रयज्ञ के जीवन का चिन्ह नहीं है। हमारा राष्ट्रयज्ञ यदि जीवित है तो उस में अब (जब कि जोशका काम नहीं है) ऐसे पर्याप्त पुरुष होने चाहिए जो कि देश के लिए फकीर बन जानेके उद्यत हों. ऐसे लोग अधिक होने चाहिए। जो कि राष्ट्र आज्ञा से चर्खा कातने के लिये आलस्य का बलिदान, अपने गप्प मारने के समय का बलिदान, सीखने का कष्ट उठाने के रूप में बलिदान और नियमपूर्वक न कातने में जो सुविधा होती है उसका बलिदान करनेको उद्यत हों और ऐसे लोग तो सभी होने चाहिए जो कि विदेशी वस्त्र पहिनने के सुख का बलिदान कर सकते हों। जीवन तो सतत बलिदान से ही चलता है, देवों की पूजा करने के प्रकरण में वेद में बहुत जगह "हविषा विधेम" यह पाठ आता करता है। इसका अर्थ यह है हम उस देवकी त्याग द्वारा पूजा करते हैं। कितना स्पष्ट है कि देव पूजा के लिए हवि की, त्याग की जरूरत है। कम से कम वेदविहित देवपूजा त्याग के विना नहीं हो सकती। यह हुई देवपूजा अंग की चर्चा।

(२) इसी प्रकार संगतिकरण के लिए सहयोग का व्यापार चलते रखने के लिए बलिदान की परमावश्यकता है। पहिले तो मेल ही बलिदान के विना नहीं होगा। किन्ही दो वस्तुओं को मिलाने के लिए उन्हे घिस कर, पिघला कर या किसी अन्य तरह कुछ न कुछ त्याग कराया जाता है। अपना व्यक्तित्व विना छोडे

कोई चीज मिलकर एक नहीं बन सकती। समाज में संगठित होने के लिए व्यक्ति को अपना बहुत कुछ बलिदान करना पडता है। रसायन के दो वस्तुओं के मिलने में भी यही सिद्धान्त है। सभाओं में एक निर्णय कर (" ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः " अथ० ७—१२—२) " सवाचसः " होने के लिए बहुधा समझौते करने होते हैं जिसमें कि दोनों को कुछ न कुछ छोडना होता है। सभाके सब सभ्य यदि अपनी सम्मति को जरा भी छोडने को तैय्यार न हों तो सभाओं का एक भी निश्चय न होसके। मिलने का तो मूल मन्त्र ही बलिदान है। यज्ञ के सब बराबर के सभासद मिले रहें इसके लिए आवश्यक है कि वे अपने एकोद्देश्य की आग में अन्य मतभेदों को अन्य सब अपनी अपनी भिन्न भिन्न इच्छाओं को स्वाहा करते रहें। त्याग से मेल होता है। अत एव संस्कृत में यज्ञ को " मेध " शब्दसे भी कहा जाता है, जैसे कि अश्वमेध, गोमेध आदि। यहां भी धातु पाठ के रचयिता ऋषि का कौशल देखने योग्य है। धातु है " मेधृ संगमे च " " च " कहने से पूर्वोक्त हिंसा अर्थ भी इस का है। एवं मेधृ धातु का अर्थ हुआ " हिंसा और संगम "। और मेध का अर्थ हुआ वह कार्य जिसमें कि हिंसा करके (नाश करके) कुछ संगम किया जाय। ऊपर कहा है कि प्रत्येक संगम (मेल) के लिए कुछ न कुछ नाश करना होता है। स्वाहा करना होता है। " मेधृ " शब्द में कैसी अच्छी तरह यज्ञ का रूप समाया हुआ है। गोमेध आदि का वर्णन तो आगे आवेगा, यहां केवल मेध शब्दका अर्थ समझना अभीष्ट था। अपने यज्ञ के साथियों में से यदि कोई जुदा होने लगे तो अपनी सब इच्छाओंकी हिंसा करके भी उसे मिलाए रखना (संगम करना) " मेध " है। स्वर्गीय देशबन्धु दास

में यह विशेष गुण था, इसी कारण उन का दल संगठित रहता था । उन का स्मरण करते हुए महात्मा गान्धी को उनके इसी गुण का विशेष ध्यान आया था । अपने साथियों को मिलाए रखने के लिए या अपने आप संगठन में मिले रहने के लिए अपने एकोद्देश्य को छोडकर और जो कुछ मिलने में बाधक हो उस सब को छोडते जाना चाहिए । कभी कभी ईर्ष्या 'द्वेष' 'क्रोध' आदि असुर मौका पाकर हमारे अन्दर अपने भाई के विरुद्ध विचारों को उत्पन्न कर देंगे । पर हमें संभाल कर ऐसे सब विरोधी विचारों को 'साम्मनस अग्नि' में स्वाहा कर देना चाहिए । जिस से कि 'साम्मनस अग्नि' बुझने की जगह और भी दीप्त हो कर यज्ञ के मध्य अंग को बढाती जाय । एवं हम देखेंगे कि मिले रहने के लिए जिस प्रकार बलिदान की आवश्यकता है वैसे ही सहयोग के लिए भी निरन्तर बलिदान का प्राण चलते रहना चाहिए । उदाहरणार्थ, आर्य समाज में सहयोग के लिए प्रत्येक आर्यपुरुष को अपना पुत्र गुरुकुल भेजना चाहिए । इधर मनमें पशु कहता है 'मेरा प्यारा पुत्र है, इसे मैं क्यों चौदह सालके लिए जुदा कर दूं" परन्तु इस पशु की तुरन्त हिंसा कर डालनी चाहिए जिससे कि वह यज्ञ में जुडा रह सके—संगम हो सके । यह भी मेध हुआ । भारतकी विदेशी सरकार के किसी कानून का कभी भंग करने में सहयोग करना हमारा कर्तव्य होता है तो मनमें पशु कहता है " अरे! जेल जाने में बडे बडे कष्ट होंगे इस काम में सम्मिलित मत हो " पर इस पशुको साम्मनस अग्नि में भस्म करके उसे अपने साथियों के संगम में संमिलित ही होना चाहिए।

(३) यज्ञका तीसरा अंग " दान " तो स्वयं ही बलि दान रूप है। इस में छोटों की सहायता के लिए, उनकी कमी पूरी करनें के लिए जो कुछ हमारे पास हो वह सब देना होता हैं। अतः इसमें बलिदान की सत्ता दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह अंग इसी कारण आधार अंग है क्यों कि बलिदान रूप है और बलिदान यज्ञका प्राण रूप है। अन्त में इस तरफ निर्देश करना भी अनुचित न होगा कि बलिदान की मात्रा का निश्चय उसके बाह्य त्याग की मात्रा से कमी नहीं किया जा सकता। इस कारण में महाभारत में कही गई अपने सत्तुओं का दान करने वाले ब्राह्मण और अर्ध सुवर्णमय नेवले की कथा स्मरण करलेनी चाहिए। परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि यज्ञकर्ता में वास्तव में बलिदान की मात्रा जितनी अधिक होगी उनका यज्ञ उतनाही वीर्यवान और जीवनशाली होगा।

इस लिए जो लोग बलिदान से डरते हैं। उनके लिए यज्ञ नहीं है। उन्हें यज्ञ से दूर रहना चाहिए और जब बलिदान करने की इच्छा पैदा हो तभी यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए। एक स्वस्थ पुरुष में अवश्यही बलिदान की इच्छा पैदा होगी। यह भी हमें समझ लेना चाहिए कि स्वस्थ यज्ञमें यह बलिदान वैसेही आसानी से, सहजता से, प्रसन्नता से होना चाहिए, जैसे कि हमारा श्वास प्रश्वास होता है। बलिदान सीखने वालों को प्रारम्भ में अवश्य कुछ बलिदान कार्य में कष्ट अनुभव होगा, परन्तु स्वस्थावस्था होजाने पर यह कार्य सहज हो जायगा। यज्ञ कर्ता पुरुष तो"यह त्याग, यह त्याग, यह भी त्याग दिया, अब यह भी" इस तरह आनन्द से बलिदान करता हुआ ही यज्ञ में अग्रेसर होता जाता है। असहयोग आन्दोलन के दिनों में एक मनुष्यने

म० गांधी से पूछा "आप क्यों इतने लोगों को जेल भिजवा रहे हैं और मरवा रहे हैं इस का पाप आपके सिर है"। उन्होंने कहा कि मैं तो किसी को मरने या जेल जाने को नहीं कहता हूं पर उन्हें इस काम में मजा आता है इस लिए करते हैं। सचमुच बलिदान करने में बड़ा मजा आता है। यह मनुष्य के लिए श्वासकी तरह परम स्वाभाविक बात है, यदि वह यज्ञ दृष्टिसे स्वस्थ है। जिन मनुष्यों को बलिदान में आनन्द नहीं आता उनके प्रेम में (यज्ञोद्देश्य के प्रति प्रेम में) कमी होती है। १३ वें प्रकरण में बताया जाचुका है कि यज्ञ तो प्रेममय वस्तु है और "प्रेम" विना बलिदान के जिन्दा ही नहीं रह सकता। प्रेमको तो भोजन की तरह रोज बलिदान चाहिए। प्रेम तो कहता है-

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दक्षिणा देय।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेमका लेय॥

अतः यह ठीक है कि जब कभी बलिदानमें कठिनता अनुभव होती है तब वास्तव में ध्येय में प्रेम की कमी होती है। अन्यथा प्रेमी तो बलिदान का भूखा होता है। परन्तु जहां प्रेम से बलिदान स्वयं होता है, वहां बलिदान से भी प्रेम बढता है जैसे कि रस से प्राण बढता है और प्राण बढने से रस अधिक बनता है। अतः प्रेम और बलिदान दोनों अपने में बढाने का यत्न करना चाहिए और इन के बढाने का यत्न करते हुए निश्चिन्त रहना चाहिए कि फिर हमारा यज्ञ सर्वथा सुरक्षित है।

२० "पहिले दूसरे, फिर मैं।"

यज्ञ में प्रेम और बलिदान का महत्त्व पूरी तरह समझने के लिए यज्ञ का मूल सिद्धान्त जान लेना आवश्यक है।

यज्ञ का मूल सिद्धान्त है "पहिले दूसरे (सव) फिर मैं (अकेला)" इसी सिद्धान्त से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य क्यों मिलते हैं? क्यों संगठित होते हैं? क्यों यज्ञ प्रारंभ करते हैं? क्योंकि अकेले जुदा जुदा रहने में उनका भला नहीं होता। अपना जुदा जुदा स्वार्थ पूरा करने में लगने से वे देखते हैं कि हम में से किसी का भी स्वार्थ पूरा नहीं होता है। इस लिये लोग मिलते हैं और देखते हैं कि मिलने से-सव का सामुदायिक स्वार्थ देखने से-सभी का (एक एक का) लाभ होता है-एक एक का स्वार्थ पूरा होता है। उदाहरणार्थ, सवसे पहिले मनुष्य कुटुम्ब यज्ञ में शामिल होना सीखता है। कुटुम्ब में यदि पति पत्नी या पिता पुत्र या दो भाई अपने जुदा जुदा स्वार्थ रखें और अपने स्वार्थ के लिये दूसरे से लडते रहें, तो वे एक दूसरे को हानी पहुंचा कर दोनों ही निर्वल रहेंगे और इन निर्वलों का बाह्य जगत् नाश कर देगा परन्तु यदि वे यज्ञ को समझ जाते हैं और मिलनेका लाभ स्पष्ट देखते हैं तो वे मिल कर सव का स्वार्थ देखने के बाद ही अपना जुदा स्वार्थ का विचार करते हैं। प्रत्येक दूसरे के सुख का विचार पहिले करता है, अपना पीछे। यज्ञ (मेल) को समझने तक उनका सिद्धान्त था। "पहिले मैं, फिर दूसरे सब" यह पशुपन है। पशु अपना ही स्वार्थ जानता है। परन्तु यज्ञ के जानने पर उनका सदैव का सिद्धान्त हो जाता है कि "पहिले दूसरे सव फिर मैं (अकेला)।" इस प्रकार यज्ञ मनुष्य को पशु से वास्तविक मनुष्य बनाता है। मनुष्य अपना केवल विचार छोडकर सव की दृष्टि

से विचार करता है और कर्म करता है। इस लिये आर्य समाज का ९ वा नियम प्रवर्तक ऋषिने बताया कि प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रह कर सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये'। इसी लिये भूमि सूक्त में कहा गया है—

मा नो भूमिर्वर्धयत् वर्धमाना ।

अथ० १२१—१३

"वह हमारी मातृभूमि (हम द्वारा) वढती हुई हमें वढावे"। वास्तव में सब मातृ भूमि (३० करोड भारतवासियों) की वृद्धिमें ही हमारी (एक एक भारत वासी की) वृद्धि है। यदि हम "पहिले मैं" के पशु सिद्धान्त के अनुसार सस्ता विदेशी वस्त्र लेना छोड कर अपना घाटा सहकर भी पहिले मातृभूमि को वढायेंगे, तो मातृभूमि सब घाटा पूरा कर देगी और हमें वढाती जायगी। इस लिये एक यज कर्त्ता कपडा लेते समय महंगा और खुरदरा खद्दर लेगा (पहिले ३० करोड भारतवासियों को देखेगा) फिर उन खद्दरों में से वेशक सस्ता और अच्छापन देखेगा। (फिर अपना भी विचार करेगा)। इस प्रकार यज्ञ की उत्पत्ति प्रारंभ ही प्रेम और वलिदान से होता है।

२१ यज्ञ का घातक शत्रु।

अब स्पष्ट है कि यज का घातक शत्रु है स्वार्थ खुदगर्जी (पहिले मैं, फिर दूसरे सब)। यह स्वार्थ प्रेम रूपी इन्द्र का वृत्र है। प्रेम सूर्य को यह सदा आ आकर ढके-लने की चेष्टा किया करता है। वलिदान का यह निषेध रूप है। वलिदान दिन है तो स्वार्थ रात है। जैसे कि वलिदान यज्ञ देवों में महादेव है, वैसे ही यज्ञ के-सब

असुरों का एक असुर "स्वार्थ" है। अहंकार, मोह, अपनापन ये सब इसी के भिन्न भिन्न रूप हैं। यज्ञ में जिस जिस वस्तु का बलिदान करना होता है उन उनका एक नाम स्वार्थ है। यज्ञ में निरन्तर इसी का बलिदान किया जाता है। यही यज्ञ का पशु है। प्राणाग्नि होत्र उपनिषद् में शरीरस्थ यज्ञ का चित्र खींचते हुवे लिखा है। "कामः पशुः" काम अर्थात् "(पहिले) अपनी इच्छा" यही यज्ञ में बलिदान करने योग्य पशु है। आज कल की भाषा में जिसे स्वार्थ कहते हैं उसके लिये अपेक्षया प्राचीन साहित्य में 'काम' शब्द का प्रयोग होता था। गीता में स्वार्थ-रहित, विना खुदगर्जी के, कार्य करने का नाम "निष्काम" कर्म है। यह ('काम') ही यज्ञ का सब से बडा या एक मात्र शत्रु है। "यज्ञ में अपनी जुदी इच्छा रखना" यज्ञ को भ्रष्ट कर देना है। गीता का मुख्य उपदेश यही है कि मनुष्य को अपने ने प्रत्येक कर्मों से सकामता का दोष निकाल कर अपने प्रत्येक कर्म को पवित्र यज्ञ कर्म बना लेना चाहिये, ऐसे यज्ञार्थ कर्म करता हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है। यज्ञ कर्म और अ-यज्ञ कर्म में निष्कामता और सकामताका ही भेद है। गीता के दूसरे अध्याय में जो नाश का मार्ग बताया है वह 'संग' और 'काम' से ही प्रारंभ होता है। यह 'काम' और 'स्वार्थ' सब पापों की भी जड है इसी लिये वेदने अकेले अपने आप खाने वाले को केवल पाप खाने वाला कहा है। "केवलाघो भवति केवलादी"। यही बात "भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" इस गीता वाक्य में कही है। यही अब

यह भी स्पष्ट हो जायगा कि जो अब तक हमने यज्ञ का लक्षण करते हुये कहा है कि 'मिल कर किये जाने वाले शुभ कर्म का नाम यज्ञ है' यहां शुभ कर्मका क्या अर्थ है? शुभ कर्मका अर्थ है " अपने लिये न करके दूसरे के लिये करना, स्वार्थ की जगह परार्थ, परोपकार करना।" परोपकार के लिये जो संगठन है वही यज्ञ है। दूसरों को पीडा देने वाले संगठनों से जो कमाई मिलती है, वह कमाई नहीं वह तो पापका ढेर है। इस प्रकार पाठक नाना प्रकार से विचार कर देख लें कि 'स्वार्थ' ही यज्ञ का विघातक है। मनुष्य में यह स्वभावतः उत्पन्न होता है, परन्तु इसका बलिदान होता जाना चाहिये। बलिदान रूपी प्राण का काम निरन्तर इसी स्वार्थ मल का निकालना है। यदि यह स्वार्थमल यज्ञशरीर में कहीं भी ठहर गया तो याद रखना चाहिये कि यह ठहरा हुवा थोडासा भी स्वार्थ-मल वह विष है जो कि सब यज्ञ का प्राणान्त कर देता है।

२२ परार्थ में स्वार्थ और स्वार्थ में परार्थ।

परन्तु हमें "स्वार्थ" का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। क्योंकि कई वार स्वार्थ में परार्थ होता है। यह स्वार्थ में परार्थ समझने के लिये हमें पहिले २० वें प्रकरण में बताये गये परार्थ में स्वार्थ को जरा दूर तक समझना चाहिये। इसे दूर तक समझने में यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि यज्ञ परार्थ क्यों होना चाहिये और स्वार्थ के लिये संगठन क्यों नहीं बनाने चाहिये।

२० वें प्रकरण में बताया है कि जब शुरू में मनुष्य यज्ञ करना सीखता है तब वह यही नयी बात सीखता है कि

"परार्थ में ही मेरा असल में स्वार्थ सिद्ध होता है" और इसी लिए वह दूसरों से मिलता है यज्ञ में संगठित होता है। अब यदि पश्चिम के लोग पूंछें या नयी सभ्यता से प्रभावित भारत वासी पूछें कि-

"हम अपना स्वार्थत्याग करते हुवे अपना संगठन बनायेंगे तो संगठन बल से हमें लाभ अवश्यही मिलेगा, हम चाहें उस संगठनके से दूसरों को लूटें या कुछ ही करें। हमारे संगठन का उद्देश्य परोपकार हो इसकी क्या आवश्यकता है?" तो मैं कहूंगा कि जिस सिद्धान्त से अपना संगठन बनाया है उसे ही आगे क्यों नहीं लगाते। यदि एक व्यक्ति का सच्चा स्वार्थ परार्थ में है अतः उसे दूसरों से मिल कर संगठित होना चाहिये, तो एक संगठित व्यक्ति (यज्ञ) का भी सच्चा स्वार्थ परार्थ में ही है अतः उसे ईश्वरीय संसार महायज्ञ में संगठित होना चाहिये। एक मनुष्य की तरह फिर एक यज्ञ पुरुष को भी सीख लेना चाहिये कि "पहिले, दूसरे, फिर मैं"। दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिये कि हमारे बनाये सब यज्ञ (संगठन) परिमित हैं, अपूर्ण हैं, अतः वे तभी सफल हो सकते हैं यदि वे परमात्मा के परम परोपकारमय संसार यज्ञ की अनुकूलता में चलें। सब के मूल में तो सब यज्ञों का स्तोत्र परमात्मा का परमपरोपकार है।

इस लिये जिनका मुख उस तरफ है वे ही यज्ञजीवन प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने उधर से पीठ फेरी हुई है वे अपने तुच्छ बल पर कब तक जीते रहेंगे। जो चाहें छोटे छोटे भी यज्ञ हैं पर यदि वे संसार महायज्ञ के अभिमुख हैं तो उनकी जड़ें जमी हुई हैं। परन्तु जो बड़ेसे बड़े ऐसे संगठन हैं (उन्हें यज्ञ नहीं कहा जा

सकता) जोकि परपीडन के लिये हैं। अतः संसार यज्ञ के स्वार्थ से जुदा अपना स्वार्थ रखते हैं वे कृत्रिम तरीकों से जितने ऊंचे खडे किये गये हैं उतनी ही जोरसे धडाम से गिरेंगे। इसलिये ऐसे संगठनों का थोडा बढना ही अच्छा है; जितनी थोडी दूर जाकर ही वे टूट जांय अच्छा है, नहीं तो धोखा बढता जाता है। इन संगठनों को यज्ञ इस लिये नहीं कहा जा सकता क्यों कि इनके सब स्वार्थत्याग राक्षस खाते जाते हैं, वे देवताओं को नहीं पहुंचते। राक्षस (स्वार्थ) देवताओं (परार्थ) की तरह अमर नहीं होते, क्यों कि उन्हें पीठ फेरी हुई होने के कारण लगातार यज्ञस्वरूप से जीवन नहीं मिलता रहता। अतः राक्षसों की आयु पूरी होने पर सब संगठन गिर पडता है। इस लिये हमने कहा कि यज्ञ परोपकार के लिये ही होना चाहिये। अस्तु।

अब दूसरी बात समझना आसान है। क्यों कि मनुष्य एकदम परिपूर्ण यज्ञ नहीं कर सकता और एकदम सब स्वार्थ नहीं छोड सकता, इसलिये वह परिमित यज्ञ करता है; परिमित रूपसे स्वार्थ को छोडता है। इसके लिये वह अपने यज्ञ पुरुष के स्वार्थ बना लेता है। उदाहरणार्थ जो अभी कुटुंबयज्ञ तक पहुंचा है, वह कुटुंब के लिये अपने सब स्वार्थ छोडता है, परन्तु कुटुंब के स्वार्थ को नहीं छोडता। एवं एक भारत वासी राष्ट्रयज्ञकर्ता अपने भारत राष्ट्र के लिये अपने सब स्वार्थ छोड देगा, पर भारत का स्वार्थ (स्वराज्य प्राप्ति) को नहीं छोडेगा। यह स्वार्थ छोडना भी नहीं चाहिये, क्योंकि यह वास्तव में स्वार्थ नहीं है। यह तो परार्थ है, क्योंकि हम अभी समझ कर आये हैं कि सब यज्ञों का उद्देश्य परार्थ होता है। कुटुंब समाज में काम आने के लिये हैं, भारत की स्वराज्यप्राप्ति संसार के लिये है, यदि ये दोनों संगठन वास्तव

में यज्ञ हैं। इस लिये अपने यज्ञका – वास्तविक यज्ञ का – स्वार्थ स्वार्थ नहीं होता। इस स्वार्थनामक परार्थ को तो कभी न छोडना चाहिये। तात्पर्य यह है कि संसार यज्ञ के अविरुद्ध जो स्वार्थ है, वह स्वार्थ नहीं है परार्थ है (संसार यज्ञार्थ है)। इसलिये इस स्वार्थ को यज्ञ का घातक शत्रु न समझकर यज्ञ का परम पोषक समझना चाहिये। यह केवल बोलनेके लिये स्वार्थ है। (असल में तो परार्थ है) क्योंकि यह परार्थ का स्वार्थ है।

अन्त में भगवद् गीता के ४ – १८ श्लोक को बदल कर मैं यों पढ सकता हूं –

स्वार्थे परार्थ ईक्षेत परार्थे स्वार्थमेव च।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नस्वार्थकृत्॥

२३ हवन प्रक्रिया।

हवन का नाम सब ने सुना होगा। बहुतसे लोग हवन और यज्ञ को पर्य्यायवाची समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'हवन' एक प्रक्रिया का नाम है जो कि यज्ञ में अवश्य भावितया होती है। इस हवन प्रक्रिया का अर्थ जानने के लिये फिर एकवार धातु पाठके रचयिता ऋषि का स्मरण करना चाहिये। उन्होंने 'हु' धातुका अर्थ लिखा है 'दानादानयोः' अर्थात् दान और आदान, देना लेना। एक ही धातु के देना लेना ये दो परस्पर विरोधी अर्थ कईओंको असंगत या विचित्र प्रतीत होंगे। परन्तु इसी में सुसंगतता और सौन्दर्य है। क्योंकि हवन करने का अर्थ है ऐसा दान करना जो कि आदान करावे। प्रत्यक्ष यज्ञ में वह प्रक्रिया होती है कि उनमें एक वस्तु दी जाती है, त्यागी जाती है और उसका परिणाम यह होता है कि एक उत्तम वस्तु का आदान

होता है, प्राप्ति होती है। इसी प्रक्रिया का नाम हवन है। भगवद् गीता के यज्ञ प्रकरण में इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार हुवा है:-

देवान् भावयतानेन। ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः। श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

" इस (यजन) से तुम देवों को भक्ति (पुष्ट करो) और वे देव तुम्हें भावित करें (इस प्रकार) परस्पर-एक दुसरे को-भावित करते हुवे तुम परमकल्याण को प्राप्त हो ओगे"। इस प्रकार देन लेन की प्रक्रिया(हवन)सब प्रकारके यज्ञों में होती है। उदाहरणार्थ, दैनिक अग्निहोत्र में हम अग्निद्वारा वायु आदि देवों को घृत सामिग्री आदि का दान करते हैं तो हमें वायु शुद्धि, वृष्टिशुद्धि आदि का आदान होता है। इस प्रकार आदान करने वाला दान यज्ञमें जिस वस्तु का किया जाता है वह वस्तु "हविः" कहलाती है। 'हवि' शब्दभी उसी 'हु' धातु से बना है। जैसे की उपर्युक्त उदाहरणमें घृत सामिग्री हवि है। इसी प्रकार राष्ट्र-यज्ञ में हवि राजकर होता है, क्योंकि प्रजा जन जो राजकर देते हैं उससे उन्हें जान, मालकी रक्षा, वृद्धि आदि फल प्राप्त होते हैं। समाज यज्ञ में एक चिकित्सक को, एक ब्राह्मण को हवि दी जाती है इस से जनता को शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। गुरु शिष्य यज्ञ में जब शिष्य समिधा होकर गुरु के पास जाते हैं तो गुरु उनकी भक्ति और शुश्रूषा की हवि स्वीकार करते हुवे उन्हें अपना सब अनमोल ज्ञान देते हैं। राष्ट्रयज्ञ में फिर सरकारी नौकर अपनी सेवायें देते हैं और उन्हें सरकार वेतन देती है। समाज यज्ञ में एक दुकानदार लोगों के लिये आवश्यकीय वस्तुयें इकट्ठी

करके रखता है और सहूलियत पहुँचाता है तो लोग उसे वस्तुओं का मूल्य देकर उसका भरण पोषण करते हैं। इस प्रकार सैंकडों प्रकार के सब यज्ञों में हम देख सकते हैं कि यहाँ 'हवन प्रक्रिया' हो रही है। केवल सब यज्ञोंमें नहीं किन्तु जैसा कि हम आगे वैयक्तिक यज्ञ के प्रकरण में देखेंगे कि सब यज्ञों के प्रत्येक अंग में यह 'हवन प्रक्रिया' होती है।

२४ क्या यज्ञ सौदा है ?

उपर्युक्त हवन प्रक्रिया देख कर कोई पूछता है कि क्या फिर यज्ञ सौदा है ? हां यज्ञ सौदा है, पूरा पूरा और पक्का सौदा है। ऐसा पकाया और सच्चा सौदा है कि हमारे बाजारी सौदे ऐसे पक्के और सच्चे होही नहीं सकते। यह बात अटल है कि यज्ञ में जो कुछ हवन किया जायगा उसका ठीक, निश्चित पूरा पूरा प्रतिफल अवश्य अवश्य मिलेगा। पर यज्ञ के निश्चित सौदा होने के कारण ही हमें यज्ञमें सौदा करना नहीं चाहिये। सौदा तो यहां हुवा हुवा है, बाजार में हम सौदा या शर्त्त बन्दी इस लिये करते हैं क्योंकि या तो हमें इस के कच्चे होते व टूट जानेका डर होता है या अपनी तरफ इसके झुक जानेकी आशा होती है। पर यज्ञ का सौदा तो पक्का है, न यहां ऐसे डरका काम है, न ऐसी झूठी आशा का अवसर है। यह याद रखना चाहिये कि सब यज्ञों का सामाजिक संगठन यज्ञों का भी- फलदाता परमात्मा है या उसके देव हैं। वे न तो रियायत कर सकते हैं और न ठगे जा सकते हैं। अतः यह समझ लेना चाहिए कि यज्ञ में सौदा करना न केवल व्यर्थ है किन्तु हानिकारक है। क्योंकि जो यज्ञ में सौदा करता है वह यज्ञ में अश्रद्धा और संशय प्रकट करता है और जो वस्तु श्रद्धा और विश्वास के योग्य है उसमें श्रद्धा और विश्वास न

रखना अपने आपको हानि पहुंचाना है।

" अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति " गी० ४।४० जो संशय रखता है और अतएव सौदा करके यज्ञ में शामिल होता है वह नष्ट होता है, क्योंकि पहिले तो अपूर्ण श्रद्धा के कारण पूरे यत्न से यज्ञ कार्य ही नहीं करता और फिर यदि कहीं उसके कल्पित त्याग के अनन्तर उसका कल्पित फल उसे मिलता नहीं अर्थात् इतने त्याग से फल अवश्य मिल जायगा उसकी यह कल्पना अशुद्ध निकलती है तो वह घबड़ा जाता है और यज्ञ छोड़कर हानि उठाता है। उदाहरणार्थ एक अधूरी श्रद्धावाला भारतवासी राष्ट्र महासभा के यज्ञ में अपनी इतनी कुर्बानी करता है जितनेसे कि वह फल की आशा रखता था, परन्तु स्वराज्यादि कुछ फल मिलता न देख अपने उस सब बलिदान को भी व्यर्थ गया समझता है और किसी तरफ का भी नहीं रहता। इसके विपरीत, एक श्रद्धालु पुरुष (जिसके मन में सौदा तो आही नहीं सकता) यदि फल निकलता नहीं देखता तो यही समझता है कि इसमें मेरी तरफ से कहीं त्रुटि रह गयी है, या तो त्याग की कमी है या त्याग करने (हवि डालने) की विधि में कुछ त्रुटि है, अतः वह अपने यज्ञको ही अधिक अच्छी तरह करने में तत्पर रहता है। इस लिये कहा है कि यज्ञ में सौदा नहीं करना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट है कि फल न मिलता देखकर विचलित न होना, श्रद्धा बनाये रखना वे ही लोग कर सकते हैं जिनके कि संगठन यज्ञ हैं- परोपकारार्थ हैं। जो परपीडन के लिये, स्वार्थ के लिये किये गये आसुरी संगठनों में शामिल हैं वे स्वभावतः बहुत घबराते हैं, फल मिलता न देख बेचैन हो जाते हैं। अपने भरोसे वे कब तक चल सकते हैं। उन्हें अपनेसे किसी ऊंची चीज में श्रद्धा नहीं होती परन्तु यज्ञकर्ता

परोपकारी पुरुषका दृढ आधार अगला यज्ञ था अन्त में यज्ञमय परमात्मा होते हैं उसकी उच्च यज्ञ में श्रद्धा या परमात्मा में श्रद्धा उसे न केवल सांत्वना देती रहती है अपि तु बहुधा कठिनाइयों के आने पर घबराहट की जगह उसमें उत्साह को पैदा करती है; क्योंकि उसे पूरा विश्वास रहता है कि वह परोपकार-कार्य सफल तो होगा ही यदि मेरे जीवित रहते नहीं होगा तो पीछे होगा अतः वह अपनी आहुती देने के लिये भी सदा उद्यत रहता है। कभी निराश नहीं हो सकता। जब यज्ञ परोपकारके लिये है अपना स्वार्थ नहीं है तब घबराहट किस लिये ?। जब यह अटल विश्वास है कि निश्चित समय पर परिणाम निकलेगा हो और परोपकार होगा ही तो यज्ञकर्ता परोपकार फल की तरफ भी (अपने लिये फल की इच्छा तो पहिले ही नहीं है) ध्यान नहीं देता किन्तु अपने कर्तव्य को अच्छे से अच्छे प्रकारसे विना त्रुटि के करने में लगा रहता है। असल में अल्पज्ञ पुरुष संसार की जटिल कर्मगति को कैसे जान पावे, उसे तो यदि किसी प्रकार परमात्मा के न्यायकारित्व और कल्याणकारित्व में श्रद्धा हो जाय तो उसका वेडा पार है। यह श्रद्धा ही मनुष्य को फल से निश्चिन्त कर शुभ कर्म करनेके कार्यमें लगातीहै। इसी श्रद्धावश मनुष्ययज्ञका पल्ला अन्त तक नहीं छोडता। अतः यज्ञ तो परोपकारिओं और श्रद्धालुओं के लिये है, स्वार्थिओं और सौदा करनेवालों के लिये नहीं है। क्या हम भारतवासियोंको यज्ञ स्वरूप परमात्मामें इतनी श्रद्धा है?

२५ यज्ञशेष।

अभी तक यज्ञके करने कराने के बहुतसे सिद्धांत और नियम बताये गये हैं। इसी प्रकार यज्ञकर्ता को क्या खाना चाहिये इसका भी एक आवश्यक नियम है- व्रत है। यज्ञ कर्ता को केवल यज्ञशेष

ही खाना चाहिये। यज्ञ से जो कुछ बचे वह यज्ञशिष्ट है। यज्ञ का सिद्धान्त पता हो लग चुका है कि "पहिले, दूसरे, फिर मैं" अतः यज्ञ से जो कुछ फल मिले जो कमाई हो उसे पहिले यज्ञ के काम में ही (जो कि दूसरे सबों को देता है) लगाने के बाद जो कुछ बचे अपने हिस्से में आवे उसे ही खाना चाहिये। यदि यज्ञ कर्ता जो कुछ यज्ञ का फल हो उस सबको अपने भोग में ही खर्च कर दे तो संसार में चलने वाले यज्ञों को बन्द करने में भागी हो और "एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।" इस भारी पापका भागी हो। यज्ञकी कमाई पर तो सब से पहिले यज्ञ का अधिकार है यज्ञ के देवों का अधिकार है। इसे प्राप्त करते हुवे ही यज्ञ के देव संसारमें यज्ञ चक्र को चलाते हैं और सब संसार का लाभ करते हैं। इस लिये यदि कोई मनुष्य यज्ञ से प्राप्त सब कमाई को अपनी ही समझ लेता है और अपने ही भोग में लगालेता है वह इन देवों के हिस्से को खाता है और इस लिये उसे गीता में " चोर " कहा गया है।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

गीता ३. १२

" उन (देवों) से दिये गये (यज्ञ फलों को) जो इन्हें बिना दिये भोग करता है वह चोर ही है"। वेद में जो "त्यक्तेन भुंजीथाः" का उपदेश है वह यही है। इस लिये वैदिक सिद्धान्तानुसार यज्ञ करने वाला पुरुष पहिले सब के लिये अवश्य कर्तव्य पंचमहायज्ञों का हिस्सा देवों को देता था (इन यज्ञों का वर्णन वैयक्तिक यज्ञ के प्रकरणों में पीछे आवेगा), फिर जिन जिन अन्य यज्ञों में वह संमिलित रहता था उनका भी हिस्सा अपनी कमाई में से निकाल देता था इस प्रकार सब यज्ञों का

हिस्सा देने पर जो कुछ शेष बचता था उसे ही वह अपने लिये भोगता था। आज कल भी हमें चाहिये कि पहिले हम सब के अवश्य कर्तव्य पंचयज्ञों को कर लें [(१) परमात्मा-चिन्तन कर लें, (२) अग्निहोत्र आदि से दैविक देवों को हवि दे लें, (३) माता पिता आदिको, (४) अतिथिओं को खिलायें, (५) काकादि शूद्र जन्तुओं का भी हिस्सा निकाल दें] फिर यदि हम राष्ट्रमहासभा के सभ्य हैं तो उसका। वार्षिक कर निकाल दें, यदि हम चर्खा संघ यज्ञ में भी हैं तो (भोजन से पहिले) प्रतिदिन आधा घंटा कात लें, स्वराज की अवस्था में जो जो राष्ट्र कर हम पर होंगे उन्हें भी देंगे।

यदि आर्य समाज के सभासद हैं तो समाज का चंदा (अपनी आपका एक शतांश भाग) निकाल दें, एवं हमारे यहां कोई कन्या पाठ शाला आदि यज्ञ संस्था हो तो उसका जो हमारा भाग हो उसे दे कर, गुरुकुलों को अपना देय भाग दे कर. इस प्रकार सब यज्ञ देवों को देने बाद जो कुछ शेष हो उसे ही खाना चाहिए। जो जितना बडा यज्ञ कर्ता होगा वह उतना ही थोडा शेष खायगा। कोई पूछता है कि यदि यज्ञ शेष कुछ न बचे तो? यदि किसी का सच मुच सब आवश्यक यज्ञों में सर्वस्व समाप्त हो जाय तो वह मनुष्य संन्यासी है उसे यदि यज्ञ के लिये संसार (या परमात्मा) जीवित रखना चाहें तो रखें, उसे अपने लिये जीवित रखने की जरूरत नहीं होती। वह तो अमर हो चुका है। यज्ञ को भूखा नहीं मारना चाहिए अपने आप भूखा बेशक मर जाय क्योंकि यज्ञ तो मनुष्य का असली जीवन है। मनुष्य को यज्ञ शेष

भी केवल इस लिये ही खाना है जिससे कि वह यज्ञ को कर सके। अतः यदि मनुष्य ने यज्ञ को (जो कि उसका जीवन है) दान देकर न चलता रखा तो वह पहिले मर गया। इसी लिये दानसूक्त में वेद ने कितने निश्चय से कहा है कि-

" सत्यं वदामि वध इत् स तस्य " ॥

ऋ० १० - ११७ - ६

दान न देकर यज्ञ को भूखा मारना निश्चय से अपना (वध) नाश करना है। इसके विपरीत यज्ञ के लिये स्वयं भूखा मर जाना अमर हो जाना है। इसी लिये शास्त्र में 'यज्ञ शेष' को अमृत कहा है। क्योंकि यज्ञ शेष खाने वाला सब यज्ञों को जीवीत रखने द्वारा अमर होता जाता है। इस लिये कहा है कि—

" यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। " गीता ४ - ३१।

यज्ञ शेष रूपी अमृत को खाने वाले सनातन ब्रह्मगति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् इस अमृत का आहार करने से मनुष्य धीरे धीरे परम अमृत को प्राप्त हो जाता है। पहिले अकेले खाने वाले को पाप खाने वाला कहा है, यहां एक दूसरे श्लोक में यज्ञशेष रूपी अमृत खाने से सब पापों से छुटकारा बतलाया है-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

गी. ३१ - ३

अकेले खाने से पापही पाप मिलता है और यज्ञशेष खानेसे सब पापों से छुटकारा होता है। इस प्रकार यज्ञ शेष का बडा महात्म्य है। इस से स्पष्ट है कि यज्ञशेष खाने का व्रत यज्ञ में कितना आवश्यक है।

२६ उच्छेष।

यज्ञ के शेष के साथ ही यज्ञ का उच्छेष भी समझ में आजायगा। यज्ञ की कमाई में से जो अपने लिये बचता है वह शेष है और जो यज्ञ के लिये छोड दिया जाता है वह उच्छेष है। यह यज्ञ के लिये छोडना दो प्रकार से हो सकता है, एक तो यज्ञ की कमाई को स्वीकार करके फिर उसे यज्ञार्थ देना दूसरा यज्ञ के फल को स्वीकार ही न करना, परिणामतः दोनों एकही वात है, परन्तु, उच्छेप का असली अर्थ दूसरे प्रकार के उच्छेष में है, जो ऊंचे यज्ञ करने वाले होते हैं वे नीचे के यज्ञों के फलों को स्वीकार ही न करने द्वारा उच्छेष छोडते हैं। इसकी पराकाष्ठा भी परमात्मा में है। परमात्मा सब से बड़ा यज्ञ करने वाला है अतः उसने सब के सब यज्ञों के फलों को छोड रखा है। वह कुछ भी नहीं भोगता। "अनश्नन् अभिचाकशीति" कुछ भी न खाता हुवा केवल प्रकाशमान है। माना उसने भरी भराई थाली वैसी की वैसी छोड दी है। उसका यज्ञ का 'शिष्ट' कुछ भी नहीं है, सब का सब उच्छिष्ट ही है। अतः वह परम अमृत है। संसार का सब ऐश्वर्य उस का उच्छिष्ट है। इस उच्छिष्ट की महिमा अथर्व वेद के ११-७ सूक्त में अच्छी तरह वतायी गयी है। परमात्माके इस उच्छिष्ट छोडनेसे ही सब संसार बना है। परमात्मा के बाद संसारके अग्न्यादि देव तथा फिर ब्राह्मण आदि भूदेव भी उच्च यज्ञ करने के कारण यज्ञोच्छिष्ट छोडते हैं। इसी लिये सब संसार चलता है, और सब समाज चलता है। यदि देव नीचे के यज्ञों की कमाई (फल) को न छोडे तो नीचे के प्राणी मारे जांय। यदि चातुर्वर्ण्य यज्ञ में ब्राह्मण

एक समय से अधिक का भोजन पास न रखने के नियम का त्याग कर प्राकृतिक भोग के सामान को शूद्रों और वैश्यों के लिये न छोडे तो सब समाज बिगड जाय। शरीर में यदि प्राण अन्य इंद्रियों की तरह भोग करने लगे और भुक्त को इंद्रियादि के लिये न छोडे तो शरीर नष्ट हो जाय। यह सब उच्छिष्ट छोडने का महात्म्य है। इस उच्छेप के कारण ही इन में देवत्व, ब्राह्मणत्व और प्राणत्व है। इसी उच्छेप से जगत् स्थित है। कार्य के लिये वेतन ही न लेना उसे यज्ञ के लिये छोड देना उच्छेप है। (लेकर छोडने का नाम भी उच्छेप हो सकता है) और लेकर तथा यज्ञका भाग छोडकर जो खाने के लिये बचता है वह शेप है।

२७ यज्ञशेप और उच्छेप।

अब यज्ञ के शेप और उच्छेप के अत्यावश्यक व्रत को भी भारतवासी कहां तक निभाते हैं यह भी देख लीजिये।

अपने अन्दर के अज्ञान साथ साथ विदेशी सभ्यता के प्रचार के कारण अब हम लोगों में पंचयज्ञ तो लुप्तप्राय हैं। संध्याअग्नि होत्र की प्रथा पहिले से ही घट रही थी; माता, पिता, गुरू, अतिथि आदि की पूजा से भी अब हमारा मन फिर गया है और बलि वैश्वदेव तो मखौल समझा जाता है। इस प्रकार आज पंच महायज्ञों में अपनी कमाई का भाग कौन खर्च करने लगा है (इनका वर्णन आगे आवेगा)। शेप रहे संगठन यज्ञ, उनका हाल सुन लीजिये। आर्य समाज का चन्दा लेने के लिये चपरासी पीछे पीछे फिरते रहते हैं, फिर भी हम टालते जाते हैं और प्रायः चन्दा पिछाडी(बकाया) बना रहता है। राज कर (Tax) तो विदेशी सरकार अपने डंडे

के जोर से इकट्ठा कराही लेती है, पर जो अपनी राष्ट्र सभा है उसका जरासा।) वार्षिक चन्दा भी किस तरह और कितना वसूल होता रहा है यह वहां के कार्यकर्ता ही जानते हैं और फिर जब सूत का चन्दा देना पडा तब तो मानों हमारी जान ही निकल गई। इसी प्रकार जहां पहिले प्रत्येक गृहस्थ का यह यज्ञीय कर्तव्य होता था कि वह अपने विद्यालयों के लिये मुट्ठी भर अन्न निकाल कर ही भोजन पकावें या भिक्षार्थ आये ब्रह्मचारिओं को भिक्षा देकर ही स्वयं खावें, वहां आज अच्छे चलते चलाते गुरुकुलभी केवल धनाभाव के कारण टूटने लगते हैं और संरक्षक लोग अपने हो बच्चोंके लिये अपना प्रतिज्ञात धन भी नहीं देते। क्या यह हमारे ' वध ' का चिन्ह नहीं है? इन सब यज्ञ संगठनों में यदि हम कुछ देते भी हैं तो ऐसा अनुभव करते हैं कि मानों हम कुछ एहसान कर रहे हैं। इसे आवश्यक कर्तव्य नहीं समझते और न देने (या अविधिवत् या देर से देने) में ' चोरी ' नहीं समझते। इसी लिये हम यथा शक्ति अपनी कमाई को यज्ञों से बचाना चाहते हैं। विदेशी लोग तथा अन्य लूटने वाले बेशक हमें लूट ले जांय और मूर्ख साधुओं और भिखमंगों और गंगाजी को भी हम दान दे देंगे, परन्तु यज्ञों को (उनका हिस्साभी) न देंगे। यह हमारी हालत है। याद रखना चाहिये कि यज्ञहवि को खानेसे बढ कर और कोई सामाजिक पाप नहीं है। वेद में (अथ. ५ - १८ - १०) लिखा है कि राष्ट्र हवि खा जाने के कारण वैतहव्य नष्ट होगये। हम तो नष्ट होही रहे हैं पर यदि हमने इन राष्ट्र महासभा, आर्य समाज आदि यज्ञों की हवि को भी चुरा कर खाया, इन यज्ञों को भूखे रख कर कष्ट पहुंचाया तब तो हमें कोई भी नहीं बचा सकता। ये थोडे से यज्ञ ही हमारी एक-

मात्र आशायें हैं। हवि देने के अवसर बहुत वार सुनाई देता है 'मैं गरीब हूं ......'। परन्तु इन यज्ञानभिज्ञ भाईओं को यह मालूम नहीं कि 'तू गरीब नहीं है, तेरा सारा देशही गरीब है और यह गरीब इस लिये हुवा है कि हम अपने को गरीब बतला बतला कर यज्ञ को भी हवि नहीं देते हैं। हवि भी अपने आप खा जाते हैं। हम चाहे कितने गरीब हों, पर उद्धार तो यज्ञहीसे होना है। 'चोरी' से तो पाप का बोझ और और बढता जायगा और नाव पार होने की जगह डूब जायगी। यज्ञ के सामने कोई गरीब नहीं है। यदि कोई सच्चा यज्ञशेषामृतको खानेवाला गरीब है तो उसकी एक कौडी भी यज्ञ में लाख रुपयों के बराबर है। इस लिये, तुम्हें तो और गरीब होने की जरूरत है। यदि सब देश-वासियों को अपना भाई समझ सको तो इस नाते से एक भारत-वासी का यज्ञशेष दो आने प्रति दिनसे अधिक नहीं है क्योंकि यह भारत वासियों की औसत आमदनी है। यदि तुम ईमानदारीसे दो आनेसे अधिक प्रतिदिन कमाते हो तो अच्छा है। परन्तु तुम्हारी उस सब दो आने से अधिक कमाई पर भारत माता (देवी) का अधिकार है, तुम्हें केवल यज्ञशेषके तौर पर शेष दोआने ही प्रति दिन अपने भोग पर व्यय करने का अधिकार है। क्या तुम ४०) कमाते हुवेभी अपने को गरीब समझते हो? इस में से प्रतिमास ३५),३६) देशके लिये खर्च न करने को चोरी नहीं समझते हो! मैं इस लिये कहता हूं कि तुम्हें तो जान बूझ कर अपने को १० गुना गरीब बनाने की जरूरत है। इस देश के गरीब वे हैं जो ५),६) मासिक से कम आमदनी कर सकते हैं। अतः रोना आता है जब कि देश के नवयुवक ४०) से भी अपने को अमीर नहीं समझते और ४०) पर देश के लिये बिक जानेको, उत्कंठित नहीं हो उठते। भारत के नव युवको! सुन लो, इस नष्ट होते हुये देश में

यज्ञ की फिकर, देश की फिकर, किसी किसी विरले को ही है। सब अपना अपना पकाना चाहते हैं और पापजीवन बने हुवे हैं। ऐसे थोडे से ही हैं जो की यज्ञशेष खाते हैं और जान बूझ कर गरीब बने हैं। पर ये थोडे से लोग ही इस देश शरीर का थोडा सा जीवीत भाग हैं। शेष सब तो इन्द्रियाराम हैं। अपने इन्द्रियसुख के लिये अधिक धन की इच्छा करते हैं और इसके लिये ३०), ४०) से लेकर अधिक से अधिक रुपये लेकर देशको चुसाने का साधन बनते हैं और पाप जीवन बिताते हैं।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। गी. ३—१६

'हे अर्जुन (जो प्रवर्तित यज्ञ चक्र को यज्ञशेष खाने द्वारा चलाता नहीं रखता) वह इन्द्रिय सुख की इच्छा करने वाला अघायु (जिसका कि जीना पाप है) व्यर्थ ही जी रहा है'। इन अघायु इन्द्रियारामों से यह देश व्यर्थ ही भरा पडा है। ऐसा देश कबतक अपनी खैर बजा सकता है। इस लिए हे भारत की आशा के नव युवको! तुम निश्चय कर लो कि तुमने भी अघायु और इन्द्रियारामों का पाप बोझ ही बनना है या यज्ञशेषामृत खाने वाले इस मुर्दा शरीर के थोडे से जीवित भाग को बढाना है। यदि तुम यज्ञशेषामृत खानेवाले (इस चटक भडक के जमाने में सूखारोटी खानेमें परमानन्द मानने वाले) बन कर इस अमृतसे अपने को अपने देशको जीवित नहीं कर दोगे, तो प्रकृति तो अघायुओं को अधिक देर तक इस भूमि पर व्यर्थ भारभूत नहीं रहने देगी यह निश्चित है। इस लिये यज्ञ ही इस देश की आशा है और यज्ञ की आशा तुम हो। इस प्रकार तुम्हारा यज्ञशेष खाने का पवित्र किन्तु कठिन व्रत ही इस देश की एक मात्र रही सही

आशा है। चिल्ला चिल्ला कर रुदन हो रहा है। 'नव युवको! अपनी आवश्यकताओं को कम करो' जान बूझ कर बने गरीब होकर यज्ञ में लग जाओ यह रोना सुनाई देता हो तो सुन लो।

यज्ञ के उच्छेप के विषय में केवल इतनाही कहना है कि भारत वर्ष में जिन जिन संगठन यज्ञों के ऊपर के लोग त्यागी ब्राह्मण वृत्ति वाले नहीं हैं, यदि पाश्चात्यों की तरह यज्ञ में बड़े होने के कारण इन लोगों को प्राकृतिक भोगभी अधिक चाहिये, यदि ये बड़े लोग अपने प्राकृतिक भोगों को छोटोंके लिये उच्छेप नहीं छोड सकते तो इन संगठनों में रोग है। इस की चिकित्सा होनी चाहिये। उच्छेप के विना कोई यज्ञ नहीं चल सकता।

२८ यज्ञसे लोक और परलोक की सिद्धि।

हम भारतवासी यज्ञशेष खाने का व्रत नहीं निभा सकते, हमसे यज्ञ में बलिदान भी करते नहीं बनता। हमको यज्ञ में आज्ञापालन, परस्पर प्रेम और दान आदि नियम पालना भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। इस प्रकार हमारी सब प्रकार से यज्ञहीन अवस्था है। इसे देख कर प्रायः हमें भगवद्गीता का निम्न लिखित श्लोक स्मरण आया करता है:—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य। कुतोऽन्यः कुरु सत्तम।

गीता ४-३१

'हे अर्जुन! जो यज्ञहीन है उसे यह लोक ही नहीं प्राप्त होता, अन्य लोक का तो कहना ही क्या है'। हमारा इह लोक तो जितना अधिक से अधिक बिगड सकता है उतना बिगड ही चुका है, केवल नाम निशान मिटना शेष है। इह लोक तो प्रत्यक्ष है। हम लोग दुनिया में सब से अधिक निर्धन हैं, सब से अधिक बेपढे हैं, सबसे अधिक निर्बल

शरीर हैं और सब बातों में अनुन्नत हैं। ऐसे तो हम अपने देश के अन्दर हैं। अपना गुलामी का कलंक लगाये हुवे यदि हम कहीं बाहर जाते हैं तो सिवाय अपमान पर अपमान के हमें और कुछ नहीं प्राप्त होता। यह हमारी इह लोक की अवस्था हुई। अब यदि किसी ने परलोक की आशा लगा रखी हो तो उसकी इच्छा है। परलोक यहां से तो प्रत्यक्ष दिखाई देता नहीं।

भारतवासी परलोक की बातें बेशक किया करते हैं। परन्तु यदि कृष्ण भगवान् से पूछा जाय तो वे तो यही कहेंगे कि 'अयज्ञ को यह लोक ही नहीं मिलता, परलोक कहां से मिलना है'। यदि उनकी इह लोक की बात सच निकली है और हमारी यज्ञहीनता के कारण इह लोक में ऐसी दुर्गति है तो परलोक में पर-दुर्गति होती है इसका अनुमान हमें अवश्य लगा लेना चाहिये।

हे यज्ञस्वरूप परमात्मा! तुम्हीं हम पर कृपा करो। हमारी यज्ञ करने में प्रीति कराओ।

२१ यज्ञ विस्तार।

वेद में बहुत जगह 'यज्ञं विततं' 'यज्ञं वर्धयामः' 'यज्ञवर्धन' इस प्रकार के वाक्य या शब्द आते हैं, जिनमें कि यज्ञ के विस्तार करने, यज्ञ के बढाने का वर्णन होता है। यह यज्ञ का बढाना या विस्तार क्या है?

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि यज्ञ का बीज 'मिलने के स्वभाव' के रूप में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रखा हुआ है। यह बीज ही बढता हुआ जब इतना विस्तृत हो जाता है कि सब विश्व में फैला जाता है तो मनुष्य को सर्वव्यापक यज्ञरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। यही हमारा यज्ञ विस्तार

से तात्पर्य है। मनुष्य पहिले पहिले अपनी अयज्ञता को छोड कुटुंबयज्ञ (गार्हपत्य) में संगठित होता है। (देखो अथ०८-१०) कुटुम्ब के आगे वह ग्राम पंचायत (आहवनीय) बनाता है, ग्राम पंचायत के बाद बहुत से ग्रामों (देश) पर एक राजा की संस्था (दक्षिणाग्नि) बनती है। इसके बाद लोक सभा (सभा) का विकास होता है, फिर अन्तरंग, मंत्री मण्डल आदि किसी रूपसे एक विशेषज्ञों की सभा (समिति) का विकास होता है और अन्त में सब देशों की अन्तर्राष्ट्रीय सार्वभौम सभा (आमन्त्रण) में मनुष्य संघटन यज्ञ परिपूर्ण होता है। परन्तु मनुष्य हृदयस्थ यज्ञ तब परिपूर्ण होता है जब सब मनुष्यही नहीं किन्तु संसार की एक एक वस्तु सूक्ष्म या स्थूल सब लोक लोकान्तर इस संपूर्ण ईश्वरीय महासंगठन में वह अपने को संगठित अनुभव करता है। तब वह सर्व मेध यज्ञको पूरा करता है। यह यज्ञ विस्तार की अवधि है। यही परम सीमा है। इस यज्ञ विस्तार को यज्ञ की सब दृष्टिओं से देखा जा सकता है। यज्ञ का उद्देश्य 'परोपकार' बतलाया जा चुका है, इसे परोपकार दृष्टिसे देखें तो कहेंगे कि मनुष्य परोपकार को बढाता हुवा, 'परोपकार' शब्दस्थ 'पर' की अवधिको बढाता हुवा, उन्नति करता है। पहिले वह कुटुंब का 'पर- उपकार' करना सीखता है। तब तक उसकी 'पर' की सीमा कुटुंब तक होती है, फिर वह इसे देश तक फैला देता है और देश का परोपकार करता है। फिर सब संसार का परोपकार करता है।

स्वामी रामतीर्थ जी ने इसे आत्मविस्तार (Expansiou of Self) के रूप में देखा है। यह यज्ञ को स्वार्थ के सच्चे साधक की दृष्टि से देखना है। मनुष्य पहिले अपने आपको

अपने शरीरादि को ही अपना (आत्मा) समझता है और इसी का स्वार्थसाधन करता है। फिर वह कुटुंब को अपना समझता है, इस के स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझता है। एवं जाति, देश और फिर सब संसार को अपना समझता है और इसके स्वार्थ के अतिरिक्त उसका कुछ और स्वार्थ नहीं होता है, इस प्रकार वह अपने आप (आत्मा) को बढाता हुवा परमात्मा को प्राप्त करता है।

प्रेम और बलिदान की दृष्टिसे यज्ञ विस्तार को देखें तो प्रारंभ में मनुष्य अपने आप से ही प्यार करता होता है, वह पहिले कुटुंब के लिये स्वार्थत्याग करता हुवा कुटुंब से प्रेम करना सीखता है और इस प्रथम यज्ञ से उसे कुटुंब के सब सुख प्राप्त होते हैं। फिर जब वह इस यज्ञ से उन्नत और बली हो कर देश के लिये सब कुछ त्यागने को उद्यत होता है तब उसे राष्ट्रयज्ञ द्वारा राष्ट्र के सब सुख मिलते हैं। इसके बाद जब वह प्रेम विस्तार में और बलिदान शक्ति में वृद्धि करके संसार भर के लिये वैसे ही प्रेमवश स्वार्थ-त्याग कर सकता है तो उसे संसार भर का सुख मिलता है। पाठक देखेंगे कि ज्यों ज्यों यज्ञ का विस्तार होता है त्यों त्यों यज्ञार्पण भाग बढता जाता है और यज्ञ शेष घटता जाता है और इस लिये उसकी यज्ञ करने की शक्ति भी उत्तरोत्तर बढती जाती है और मनुष्य उससे भी बडा यज्ञ करता है। अंत में यदि वह इस सब संसार सुख को संसारके मूल परमात्मा के प्रेम में अर्पित कर सकता है तो उसे परमानन्द मिल जाता है। इस प्रकार मनुष्य अपने हृदयस्थ यज्ञ को ही हृदय द्वारा बढाता हुवा अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेता है।

इस प्रकरण में जो हमने यज्ञ के बढनेके पर्व बतलाये हैं यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मनुष्य इन पर्वों पर अटकता हुवा ही आगे बढे, कोई इनमें से किसी या कई पर्वों को एकदम लांघ जाता है, कोई किसी में अधिक देर तक अटकता है। किन्तु उन्नति का, यज्ञ विस्तार का मार्ग यही है, प्रकार यही है।

हम भारत सियों वा की दशा इस यज्ञ विस्तार के संवन्ध में भी कैसी है ? हम लोग तो अभी राष्ट्रयज्ञ तक भी नहीं पहुंचे हैं। वहुत कुछ कुटुंव यज्ञों में ही ग्रस्त हैं। इस से ऊपर उठे हैं तो नाना जाति पाँति के वन्धनों में ऐसे झूठे यज्ञों में उलझे पडे हैं जो कि हमें राष्ट्र यज्ञ तक भी नहीं पहुंचा सकते। इस समय में जब कि संसार के सब सभ्य देश अपने अपने राष्ट्र पुरुषों के रूपमें अपनी अपनी उन्नति कर रहे हैं, वहां हमारा अभी तक राष्ट्र भी न बन सकना कितन दुःखप्रद है।

३० यज्ञ से यज्ञका यजन।

अब तक यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि क्योंकि सब यज्ञ परोपकार के लिये होते हैं और क्योंकि निचला यज्ञ अगले यज्ञ को प्राप्त करने वाला होता है, इस लिये मनुष्य के यज्ञों में कहीं टाकरा नहीं हो सकता। पर पीडन के लिये, स्वार्थ के लिये रचे गये संगठनों का तो ऐसे ही किन्हीं आसुरी यज्ञों से या सच्चे यज्ञों से टकरा होता है, पर यज्ञ का यज्ञ से कभी नहीं हो सकता। यह तो परस्पर सहायक होते हैं। इस लिये एक मनुष्य जो संसार यज्ञ तक पहुंचा होता है राष्ट्र-यज्ञ, कुटुंवयज्ञ तथा वैयक्तिक यज्ञों को भी करता रहता है, क्योंकि राष्ट्रयज्ञ संसारयज्ञ का विरोधी नहीं है और उसका

कुटुंबयज्ञ राष्ट्रयज्ञ का विरोधी नहीं है। बल्कि यह एक दूसरे के सहायक होते हैं। इस लिये जैसे कि एक संसार यज्ञ तक पहुंचा पुरुष आवश्यकता पडने पर अपना बलिदान संसार, राष्ट्र या कुटुंब यज्ञ के लिये कर देता है। वैसे ही वह अपने कुटुंब यज्ञ का भी बलिदान आवश्यकता पडनेपर संसार या राष्ट्रयज्ञ के लिये कर देता है और अपने राष्ट्र-यज्ञ का संसार के लिये कर देता है। इस प्रकार छोटे यज्ञ का बडे यज्ञ के लिये बलिदान करना ही "यज्ञ से यज्ञ का यजन" कहलाता है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। ऋग्वेद ॥

'देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया'। उदाहरणार्थ, मनुष्य-जीवन स्वयं एक यज्ञ है। इसे सौ वर्ष तक या ११६ वर्ष तक चला कर पूरा करना प्रत्येक का धर्म है (इस यज्ञ का वर्णन अन्त में होगा), परन्तु उच्च यज्ञ में आवश्यकता पडने पर इसे बलि-दान कर देना होता है। एवं राष्ट्र यज्ञमें जब मनुष्य नौ जवानी में ही अपने प्राण दे देते हैं तो उन्हें मध्य आयु में मरने का पाप होने की जगह बडा भारी पुण्य होता है। यह हुवा यज्ञ से यज्ञ का यजन मनुष्य यज्ञ से राष्ट्र यज्ञ का पूजन। एवं कुटुंबयज्ञ द्वाराभी राष्ट्र का यजन तथा संसारयज्ञ का राष्ट्रयज्ञ द्वारा यजन हो सकता है और अन्त में आत्म यज्ञ (ब्रह्मप्राप्तियज्ञ) के लिये अपने सब राष्ट्र को तथा अपने सब संसार के ऐश्वर्य को भी त्यागा जा सकता है। इस ज्ञानको पंचतंत्र के एक श्लोक में निम्न प्रकार से भर दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे । ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
कुलं जनपदस्यार्थे । आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।

'कुल के लिये एक आदमी को त्याग दें, ग्राम के लिये कुलको त्याग दे । देशके लिये कुलको और आत्मा के लिये पृथिवी को (संसार को भी) छोड दें । '

परन्तु हम भारतवासी यज्ञ से यज्ञ का यजन कहां तक करते हैं ? पहिले तो हमारे यहां यज्ञ ही बहुत कम हैं और बुरी दशा में हैं । जो कुछ यज्ञ हैं उनमें भी हम बडे यज्ञ के लिये छोटों को अर्पण करके अपनी शक्ति बढाने के लिये तैय्यार नहीं होते । छोटे छोटे टूटे फूटे यज्ञ बनाये रखते हैं । इसका कारण है हमारा अहंकार, हमारे यज्ञों का वास्तव में यज्ञ न होना । यदि हमारे संगठन वस्तुतः परोपकारार्थही हों तो उनका परस्पर मिल जाना कुछ भी कठिन न हो । असल में यज्ञ संगठनों में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ भी रहता है जो कि हमें मिलने नहीं देता । दूर जाने की जरूरत नहीं, आर्यसमाज की ही कई ऐसी संस्थायें हैं जो कि परस्पर मिल सकती हैं । यदि वे मिल जांय तो आर्यसमाज की शक्ति बढे और जनता का धन भी दो जगह व्यर्थ व्यय होने से बच जाय । हमारी राष्ट्र सभा के दल भी कई समय एक दूसरे में अर्पित हो सकते हैं, परन्तु केवल अपनी पृथक् सत्ता (जिसकी कि देश को जरूरत नहीं होती) रखनेके लिये जुदाही रहते हैं । इसके विपरीत इग्लैंड में परस्पर विरोधी दल भी काम आने पर मिल जाते हैं और मिल कर राष्ट्र कार्य चलाते हैं । इस विषय में भी हमें अपनी दशा विचारनी और सुधारनी चाहिये ।

३१ यज्ञ और पाश्चात्य लोग।

पाश्चात्य लोग हम भारतवासियों की अपेक्षा यज्ञ को अधिक समझते हैं यह मैं कहता आया हूं और आगे भी कुछ कहूंगा। परन्तु यह कथन कहीं भ्रमजनक न हो। उनके यज्ञ का दोष भी तो मैं बतलाता रहा हूं तथापि यह स्पष्टतया समझ लेना अच्छा है कि पाश्चात्य लोग यज्ञ विषय में कहां तक अनुकरणीय हैं और कहां नहीं। एक शब्द में कहा जाय तो संगठन वनाने में (अपने संगठन के लिये स्वार्थत्याग करने, कर्म करने में) वे हमारे अनुकरणीय हैं, किन्तु संगठनों को पर पीडनार्थ वनाने में वे कभी भी अनुकरणीय नहीं हैं।

पाश्चात्य लोग परीक्षण स्वभाव होते हैं। वे प्रकृति में एक एक वस्तु का परीक्षण करते हैं। उनके परीक्षणों से हमें लाभ उठाना चाहिये। उन्होंने दुनियां में बडे से बडे संगठन बना कर संगठन शक्ति का बल सब संसारको दिखला दिया है। पहिले हमें इस से लाभ उठाना चाहिये। किन्तु उनके वनाये संसार यज्ञ के विरोधी संगठन अब नाश हो रहे हैं, महायुद्ध से अव तक सभी पाश्चात्य देश गिरे पडे हैं उनकी बहुत बुरी हालत है। उनके इस परीक्षण से भी हमें लाभ उठाते हुवे यह सीख लेना चाहिये कि हम उच्च यज्ञ विरोधी संगठन न बनावें, किन्तु यज्ञ ही खडे करें, परोपकारार्थ ही संगठन बनावें। उनके संगठन की जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है, किन्तु उनकी स्वार्थपरता, उनका संसार में परोपकारमय परमात्मा को न देखना निन्दनीय है। अपने राष्ट्र के लिये तो वे बडे बडे स्वार्थत्याग करते हैं परंतु दूसरे देशों का नाश करके, लूट कर भी वे अपने स्वार्थ पूरा करते हैं। इस बुराई का प्रभाव उनके देश पर कैसा न होगा?

महायंत्रप्रवृत्ति (Industrialism) के वे ही बडेबडे व्यापार संगठन जिनसे कि वे दूसरों को लूटते हैं उनके देश में बेकारी बढाने के साधन होते हैं और फलतः वहां सदा अमीरों और पुंजीपतिओं के झगडे चलते रहते हैं। वे हवि द्वारा देवों की पूजा करना नहीं चाहते, किन्तु देवों से जबरदस्ती फल छीनना चाहते हैं। एवं उनके राष्ट्र संगठन में हवन प्रक्रिया बिगडी होती है और फलतः ऐसे उपद्रव होते रहते हैं। वहां के ब्राह्मण (ज्ञानी) लोग भी अपने पास प्राकृतिक भोग इकठ्ठा करना चाहते हैं और उच्छेष नहीं छोडते हैं। ये सब अयज्ञीय बात उनके यहां स्वार्थ-परता के कारण ही हैं। फिर वे स्वार्थपरता के कारण एक दूसरे के विरुद्ध संगठन खडे करके लडते रहते हैं। इस लडाई अशान्ति के कारण आज पश्चिम के देशों का क्या हाल है वे वहां की आन्तर अवस्था देखने वाले ही जानते हैं। अतः हमें उनके इस परीक्षित अनुभवसे लाभ उठाकर परपीडनकारक संगठन बनानेसे दूर रहना चाहिये।

बात यह है कि पश्चिमवाले हर एक बात नीचे से (जडप्रकृति) से शुरू करते हैं, उन्हें ऊपर का प्रकाश कम मिलता है। अतः वे व्यर्थ में ही अतिपरीक्षण करते हैं। दूसरी तरफ हम अनुभव करते हैं कि भारत वर्ष में प्रकाश है, किन्तु भारतवासिओं में बल नहीं है जिससे कि वे प्रकाश को देखभी सकें और तदनुसार कार्य कर सकें। यदि पश्चिम को आत्मज्ञानका प्रकाश मिल जाय तो उस परोपकारमय यज्ञ प्रजापति से आने वाले प्रकाश में (अपने केवल मनके प्रकाश को छोडकर) वहां का प्रत्येक व्यक्ति वह जिस जिस परोपकारार्थ यज्ञ के योग्य है उस उस में जुडता हुआ अपना और संसार का भला कर सकता है। एवं भारत में उनको धर्म पुस्तकों तथा गुप्त विद्याओं में प्रकाश

विद्यमान है, यदि उनकी निर्बलता दूर हो जाय और भारतीयों को आंखें उसे देखने लगें तथा हाथ पैर काम करने लगें तो वे भी अपना और संसार का भला कर सकते हैं। अस्तु। यह तो हुई कुछ ऊपर की बातें, हम फिर प्रकृत विषय पर आते हैं।

३२ यज्ञ के चार ऋत्विक्।

अब तक हमने बतलाया है कि यज्ञ का शास्त्रोक्त स्वरूप 'मिलना' है और इसका मुख्यार्थ संगठित होकर परोपकार कार्य करना है। इस लिये शास्त्रोंमें जो होता, उद्गाता आदि चार प्रसिद्ध ऋत्विजों का वर्णन आता है ये चारों ऋत्विक् संगठन यज्ञ में होते हैं यह भी हमें जान लेना चाहिये। वेदमें इन चार ऋत्विजों का वर्णन निम्न मंत्र में है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्। गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु॥
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

ऋ० १०

इस मंत्र के चारों पादों में क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु इन चारों का वर्णन हुवा है। इनमें से मंत्र में नाम केवल ब्रह्म का आया है। औरों का कर्म ही बतलाया है। इनमें से एक एक को समझते हुवे पाठक जान जायंगे कि ये चारों प्रत्येक संगठन में रहने वाले कार्य कर्ता हैं।

(१) पहिले अध्वर्यु को लीजिये। यह यज्ञ का प्रबंधकर्ता होता है। यह यज्ञ की सब तैयारी करता है और फिर यज्ञ के बीच बीच में जिस कार्य की आवश्यकता होती है उसे करता है। यह यजुर्वेद अर्थात् कर्म का प्रतिनिधि होता है। इसलिये यजर्वेद यज्ञों का विधायक वेद समझा जाता

है। यह आवश्यक है कि अध्वर्यु सब प्रकार के यज्ञों को जानता हो और उनका प्रबन्ध कर सकता हो। 'अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते, अर्थात् यज्ञ को जोडने वाला, ले जाने वाला, इच्छा करने वाला यह अर्थ यास्काचार्य जी ने इस मंत्र में अध्वर्यु शब्द का किया है। यही बात इस मंत्र के अंतिम पाद में कही गयी है 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीते' अर्थात् अध्वर्यु यज्ञ की इतिकर्तव्यता को बताता है

(२; ३) फिर यज्ञ में 'होता' और 'उद्गाता' होते हैं। इनका वर्णन इस मंत्र के पहिले और दूसरे पाद में है। ये क्रमशः प्रस्तावक और अनुमोदक कहे जा सकते हैं। ये ऋक् और साम (ज्ञानस्तुति और उपासना) के प्रतिनिधि होते हैं। होता पहिले (ऋचां) स्तोतव्य विषयों की (पोषं पपुष्वानास्ते) अच्छी तरह समझा कर पुष्टि करता है कि यह बात ऐसी है, इस पर उद्गाता बोलता है और सभा में (शक्वरीषु) इस प्रकार सुप्रविष्ट हुवे हुवे विषयों की (गायत्रं गायति) बारीकियों का वर्णन करता है। 'होता' का शब्दार्थ है सभा को बुलाने वाला या निर्णय पाने के लिये विषय को सभा में देने वाला। 'उद्गाता' का अर्थ है 'गुणगान करने वाला'। होता और उद्गाता के उपर्युक्त अर्थ केवल सभायज्ञ में संगत होते हैं। प्रत्येक संगठन में इनका क्या कार्य है यह जरा अधिक अध्ययन और विचार के बाद बताया जा सकता है।

(४) इसके बाद प्रत्येक संगठन के प्रधान या सभापति का नाम 'ब्रह्मा' होता है। यह चौथा यज्ञ का मुख्य ऋत्विक् होता है। यह अथर्ववेद (विज्ञान) का प्रतिनिधि है।

अतः यह सब कुछ जानने वाला 'जातं जातं वेदिता' होता है। इस का ज्ञान चतुर्मुख होना चाहिये तभी यह प्रधानत्त्व कर सकता है। 'ब्रह्मा' का शब्दार्थ यही है 'ज्ञानमें वढा हुआ' श्रुतितः परिवृढः। इसका वर्णन इस मंत्रके तीसरे पादमें हुवा है। इस प्रकार यज्ञ के यह चार कार्यकर्ता प्रत्येक संगठन में होते हैं। वैसे तो संगठन यज्ञों के ऋत्विक् (अधिकारी) वहुतसे होते हैं। कहीं अठारह कहे हैं, कहीं इससे भी अधिक। होता और उद्गाता के ही बहुत प्रकार बताये गये हैं। यहां तो इन चार मुख्य ऋत्विजों का दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है।

इन चार यज्ञों के प्रमुखों के कर्तव्यों या व्रतों (कर्म नियमों) का वर्णन जगह जगह पुस्तकों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ छान्दोग्य ४ अध्याय के १५, १६, १७ खंड में 'ब्रह्मा' का वर्णन है। वहां कहा है कि ब्रह्मा का काम यज्ञ को 'मनन' द्वारा पवित्र करना है, जब कि शेष तीनों 'वाणी' द्वारा यज्ञ को पवित्र करते हैं। अतः ब्रह्मा को अपने समय से पूर्व बोलना-अपनी सम्मति आदि प्रकट करना नहीं करना चाहिये, ऐसा करने से यज्ञरथ का मननचक्र टूट जाता है। हमारे संगठनों के प्रधानों को भी यह नियम सीखना चाहिये। एवं आगे लिखा है कि ब्रह्मा ऐसे को बनाना चाहिये जो कितनी विद्याओंके निचोड को जाननेवाला हो (जो कि निचोड वहां भूः भूवः स्वः बतलाये हैं) जिससे कि यज्ञ यदि कहीं से टूटने लगे तो वह उसका इलाज कर उसे जोडे रख सके और यज्ञ की रक्षा कर सके।

इसी प्रकार उद्गाता के कर्म 'उद्गीथ' का वर्णन छान्दोग्य के प्रारंभ में बहुत कुछ आता है। वहांसे जाना जा सकता है कि उद्गाता कैसा होना चाहिये। बृहदारण्यक के तृतीय ब्राह्मण

में वर्णन है कि देवों और असुरोंके युद्धमें देवों ने अपना उद्-गाता वाणी, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि सब को क्रमशः बनाया, किन्तु असुरोंने इन सबको पापसे युक्त कर दिया, अन्तमें उन्होंने प्राण को उद्‌गाता बनाया तो यह निःस्वार्थ होने के कारण (यह अपने लिये कुछ नहीं रखता था) ऐसा उद्‌गाता बना कि उसपर प्रहार करनेपर सब असुर इस तरह नष्ट हो गये जैसे कि एक शिलापर फेंका गया मट्टी का ढेला चकनाचूर हो जाता है । इस से यह नियम पता लगा कि उद्‌गाता प्राण की तरह सर्वथा निःस्वार्थ, निस्पृह होना चाहिये । इसी प्रकार होता वाक् की तरह, अध्वर्यु चक्षु की तरह तथा ब्रह्मा मन की तरह संगठन यज्ञ में होना चाहिये। (बृ. ३-३ । १ । ३-६)

३३ पुस्तकों में वर्णित प्राचीन यज्ञ ।

अब प्रश्न है कि पुरानी काण्ड की पुस्तकों में वर्णित जो नाना प्रकार के यज्ञ, याग, इष्टियां, मेध, क्रतु, सत्र हैं क्या वे भी मनुष्य-संगठन रूप यज्ञ हैं ? हां, उनमें से बहुत से तो अवश्य ही मनुष्य संगठन रूप यज्ञ हैं, उनका दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं । शेष जो कोई प्राचीन यज्ञ हैं वे वैयक्तिक यज्ञ हैं और उनका वर्णन आगे 'देव यज्ञ' के प्रकरण में पाठक देखेंगे। परन्तु इन सब प्राचीन यज्ञों का आज ठीक ठीक रूप समझना कठिन है । उनकी सब क्रियायें, कर्म काण्ड लुप्तप्राय हैं । इनके लोप होने का मुख्य कारण यही है ('याज्ञिक' लोग हमें क्षमा करेंगे) कि हम यज्ञतत्त्व को भूल गये और उनके बाह्य कर्मों को ही लिये बैठे रह गये । इसलिये जैसे आत्मा के निकल जाने से शरीर नष्ट ही हो जाता है वैसे ही सब कर्म काण्ड स्वाभाविक मृत्यु से नष्ट हुआ है और होता जा

रहा है। हमें यत्न करके अब भी इसे बचाना चाहिये। परन्तु इसके बचानेका उपाय यही है कि हम पहिले यज्ञ वस्तु के तत्त्व को समझें, प्रत्येक यज्ञ के अपने अपने तत्त्व को भी समझें, इस तत्त्व के जान लेने पर इन यज्ञों के बाह्य रूपों में वर्तमान भिन्न अवस्थाओं के अनुसार यदि किन्हीं परिवर्त्तनों की आवश्यकता हो तो उन परिवर्तनों को करके भी हमें यज्ञप्रथा को जीवित करना चाहिये। यद्यपि कर्म काण्ड को बिगडे बहुत समय होगया है, भगवान बुद्ध के समय से यज्ञ के बाह्य रूपों परही जोर हो गया था और अतएव इस समय इनके तत्त्वों को समझना बडा कठिन होगया है, तथापि एक बात तो स्पष्ट है और यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यज्ञों में जो नानाप्रकारकी विधियां हैं वे किन्हीं बातों के चिन्ह हैं, किन्हीं सिद्धान्तों को स्मरण कराने वाले हैं। बहुधा वे प्रकृति में होने वाले बडे बडे कार्योंको समझाने के लिये छोटे छोटे क्रिया चित्र हैं। अतः हमें यज्ञों में उन उन बातों, उन सिद्धान्तों, उन बडे बडे प्राकृतिक कार्यों के भावों को समझना चाहिये। इनके समझने से यज्ञ तत्त्व सुगमता से समझमें आजायगा। ब्राह्मणों में इन्हीं का वर्णन है। किन्तु इन सिद्धान्तों, इन भावों को विना समझे बूझे केवल कर्म काण्ड करते जाना सर्वथा व्यर्थ है, राख में आहुति डालना है। 'भस्मनि जुहुयात्तादृक तत्स्यात् छा० ५ - २४ - १। मनुष्यका स्वभाव है कि वह सूक्ष्म या दूर दूर फैली वस्तुओं को आसानी से ग्रहण नहीं कर सकता है, जब तक कि उसे दृश्य और सन्मुख स्थित चित्र द्वारा वह बात हृदयंगत न करायी जावे। इसलिये भूगोल आदि विद्यायें भी चित्रों से पढाई जाती हैं। परन्तु यदि कोई असली गंगा नदी को न जाने और चित्र की नीली रेखारूप गंगापरही अंगुली फेरता रहे तो उसे भूगोल ज्ञान का फल कैसे मिल सकता है। इस

लिये प्राचीन यज्ञों का तत्त्वभी उनके चिन्हों के असली अर्थ को समझने से ही जाना जा सकता है। इसके लिये परीक्षण करने होंगे और नाना प्रकार के यत्न करने होंगे। तात्पर्य यह है कि इतने देर से छूटे हुवे इन प्राचीन यज्ञों के स्वरूपों को अभी ठीक ठीक बतला सकना अशक्य है अतः हम इनका केवल दिग्दर्शन कर सकते हैं। तदनुसार इन प्राचीन यज्ञों में से जो जो यज्ञ मनुष्य संगठन रूप हैं उनका प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है। (शेष वैयक्तिक प्राचीन यज्ञों का वर्णन आगे आवेगा)।

१ राजसूययज्ञ।

इसमें राजा का प्रसव किया जाता है।

राजा का चुनाव और राजतिलक जिस सम्मेलन में मिल कर किया जाता है उसका नाम राजसूययज्ञ है। इसका वर्णन अथर्व वेद के ४-८ सूक्त में देखा जा सकता है।

२ विश्वजित्।

इस यज्ञ द्वारा एक राष्ट्र या एक मनुष्य समुदाय सब संसार को जीत सकता है।

३ अश्वमेध यज्ञ।

शतपथके 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' 'वीर्यं वा अश्वः' आदि वचनों से स्पष्ट है कि अश्वमेध भी कोई राष्ट्र संगठन ही है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अश्व का मेध राष्ट्र में धान्य की वृद्धि के लिये होता था। अश्व का अर्थ वहां सस्य (धान्य) लिखा है। कृषकों से सस्य का केवल एक दशांश भाग लेकर शेष नऊ दशांश भाग उन्हें ही छोडकर उनको सस्य वृद्धि में उत्साहित किया जाता था। पाठकों को मेध शब्द का अर्थ स्मरण ही होगा। नऊ दशांश भाग धान्य त्याग कर धान्य का संगम करना मेध है।

प्रकृति में जो अश्व मेध यज्ञ स्वयं हो रहा है तथा अर्क और अश्वमेध का तत्त्व क्या है इसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारंभ में हुवा है।

(४) पुरुषमेध।

उपर्युक्त बौद्ध ग्रन्थानुसार राजपुरुषों को पूरा पूरा और नियमसे वेतन देकर उनको राज्य से मिलाये रखना (संगम)- राजप्रिय रखना राष्ट्र में पुरुष मेध है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में भी यह यज्ञ देखा जा सकता है जिस से कि प्रत्येक मनुष्य अपना अपना त्याग करता हुवा उच्च, उन्नत होता जावे। तथा संग्राम में कुछ मनुष्यों का आत्मसमर्पण करने द्वारा अन्य सब राष्ट्र की रक्षा भी पुरुषमेध है।

(५) गोमेध।

कृषक समुदाय द्वारा भूमि को तोडा फोडा जाकर भूमि की उपजाऊ शक्ति का बढाना गोमेध है।

(६) सर्वमेध।

किसी उच्च यज्ञ के लिये कि मनुष्य समुदाय का अपना सर्वस्व त्याग देना सामुदायिक सर्वमेध है।

(७) वाजपेय।

प्रिय वाणी या अन्नसे जनता को तृप्त करने वाले संगठन का नाम वाजपेय है।

वास्तव में तो जितने भी प्राकृतिक यज्ञ आधि दैविक जगत् में हो रहे हैं उन सब के अनुसार एक एक यज्ञ आधिभौतिक जगत् में—मनुष्य संगठनों में-ढूंढा जा सकता है। अभी तक जिनकी तरफ ध्यान गया है वे थोडे से ऊपर लिख दिये हैं।

सभी मिलकर किये जाने वाले प्राचीन यज्ञ इसमें गिनाये जा सकते हैं: या यूं कहना चाहिये कि सभी सैकडों प्रकार के संगठन यज्ञों के प्राचीन नाम पता लगा कर लिखे जा सकते हैं। सोलहों संस्कार यज्ञ इसी सूची में आजावेंगे। इन सब यज्ञों में इकट्ठे मंत्र बोलते हुवे संगठित मनःशक्तिद्वारा अभीष्ट फल प्राप्त किये जाते थे।

३४ पशु बलि।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुवे वह आन्दोलित पशुबलि विषय पर भी कुछ लिखना आवश्यक है। शब्दार्थों को अशुद्ध समझ कर जहां गौ, अश्व, अज, नर की बलि का विधान लोग समझ लेते हैं, उनका स्पष्टीकरण बहुत बार हो चुका है और होता रहता है। अतः उसपर मुझे कुछ नहीं लिखना है। मैं तो कहता हूं कि बलिदान तो यज्ञ का प्राण है और यह बलिदान सदा पशु का ही होता है। पशु (मारने योग्य) का यदि हम बलिदान न करें तो क्या आत्मा (न मारने योग्य) का बलिदान कर दें। यह तो आत्महत्या हो जायगी। परन्तु बलिदान और हिंसा में भी आकाश पाताल का भेद है। बलि-दान अपनी वस्तु का (अपना) होता है और स्वेच्छासे होता है, हिंसा दूसरेकी की जाती है और उसकी इच्छा के विरुद्ध की जाती है। यज्ञ में न तो अपने आत्मा का (अपने सच्चे स्वरूप का) बलिदान कर आत्मघात किया जाता है और न किसी दूसरे का नाश कर हिंसा की जाती है, किन्तु अपने पशु का (नाशनीय बुरे रूपका) आत्मबलिदान किया जाता है। अपने पशु का आत्मबलिदान यज्ञ में इस लिये किया जाता है कि इस से "पशु- मनुष्य" मनुष्य बन जाता है। फिर "मनुष्य-मनुष्य"

अपने मनुष्यत्व का (मनुष्य भी एक उच्च प्रकार का पशु है) वलिदान करके "देव मनुष्य" न जाता है, इस प्रकार यज्ञ पशुको मनुष्य वनाता है और मनुष्य को देव वनाता है। 'कामः पशुः' कह कर यह पहिले वतलाया ही जा चुका है कि मनुष्य का पशु स्वार्थ है। काम, क्रोध, लोभ आदि इसी स्वार्थ के भेद हैं यह भी वतलाया गया है। तो यह काम क्रोध आदि ही पशु हैं जिनका कि आत्मवलिदान करने पर "पशु मनुष्य" अपने आप को "मनुष्य मनुष्य" वना लेता है। काम क्रोध आदि को पशु कहना कोई कविता की आलंकारिक वात नहीं है। यह तो वास्तविक वात है, एक वैज्ञानिक (scientific) वात है । जैसे मनुष्य में सब देवता रहते हैं, वैसे पशुभी रहते हैं। मनुष्य तो संसार का एक अत्यन्त छोटा सा पूरा नमूना है। जैसे कि देव अन्दर भावों के रूपमें रहते हैं ऐसे ही पशु भी (पशु भावों के रूप में रहते हैं ।) ये निराकार पशुभाव ही जव साकार हो जाते हैं तो ये वाहर के दिखाई देने वाले पशु वन जाते हैं अर्थात् अन्दर के पशु भाव ही जीव को साकार पशु-योनि में ले जाते हैं। उदाहरणार्थ श्येन (वाज) घमंड का रूप है। गिद्ध पक्षी लोभ का प्रतिनिधि है, चाप लूसी से कुत्ते की पशु योनि मिलती है तथा अज्ञान में रहने के कारण जीव को उल्लू या गदहे चोला पहिनना पडता है। मेरी कही हुई ये समानतायें कुछ अशुद्ध हो सकती हैं, किन्तु यह तो सर्वथा सत्य है कि ये सब दिखायी देने वाले पशु हमीं बनते हैं यदि हम उस उस प्रकारके 'स्वार्थ' में जीवन भर ऐसे ग्रस्त रहते हैं कि यज्ञ हमें पशुमनुष्य से मनुष्य-मनुष्य बनाने में असमर्थ रहता है। वाह्य पशुओंकी आकृति

शकल सूरत में भी उस उस बुरे भाव से समानता होती है। अतः ये अन्दर के पशुभाव और बाहर के पशु एक ही वस्तु हैं, केवल कच्चे पक्के होने का अवस्थाभेद है। यदि हम इन अन्दर के कच्चे पशुओं का बलिदान करेंगे तो पक कर ये साकार पशु हो जांयगें। यह है यज्ञ में पशुबलि-दान का तत्त्व।

इस तत्त्व को समझ लेने के बाद यदि आप देखते हैं कि ब्राह्मण में या किसी अन्य श्रद्धेय ग्रन्थ में लिखा है कि इस मंत्र से पशु के इस अंगको यज्ञ में काटे तो आप इस विधि का क्या अर्थ समझेंगे? क्या आप किसी दूसरे बिचारे दयनीय पशु को जबरदस्ती पकड लाकर वहां काट डालेंगे या अपने अन्दर के उस पशु के नाश का दृढ संकल्प करने के लिये पिष्ट या मट्टी के (जैसा कि विधान भी है) तदा-कार पशु को काटेंगे और ध्यान करें कि "यह मैं अपने भावी पशुरूप का नाश कर रहा हूं, यदि मैं 'काम' को नहीं छोड़ूंगा तो इस पशु योनि में पहुंचूंगा, मेरी ऐसी दुर्गति होगी इस भावी दुर्गति का मैं अभी से नाश करलूं इत्यादि।" बलिदान तो अपना करना है, अपने अन्दर के पशुका या अपने भावी पशु रूप का जिसका कि चित्र पूरा हृदयपर अंकित करने के लिये पिष्ट का पशु बना लिया है। बाहर के किसी अन्य पशु से हमारा क्या सम्बन्ध। हमारे यज्ञ में तो हमारी ही वस्तु का बलिदान होगा। पशु अपना यज्ञ अपने आप करें और चाहें तो उसमें अपने शरीर की बलि दे दें। स्वामिभक्त पशुभी स्वेच्छा से अपना बलिदान कर सकते हैं, तो उस बलिदान का फल उस पशु को मिलेगा। पर अपने अन्दर के पशु की जगह किसी दूसरे पशु को मार डालना

यह तो बिलकुल उलटा होगया। यजन की जगह हिंसा। आत्म-बलिदान की जगह दूसरे का घात। पशु के साथ जो मनुष्यने यज्ञ करना है वह तो पंच महा यज्ञों के भूतयज्ञद्वारा किया जाता है। उस द्वारा अपने से छोटे, दुर्बल, मूक पशु पक्षि और कृमि आदि की रक्षा का व्रत लिया जाता है और चिन्ह रूपसे काकादि को बलि खाने को दी जाती है। इन बिचारे हमारे आश्रित पशुओं से तो हमारा यज्ञ (संबन्ध स्थापन) इसी प्रकार हो सकता है। इन की तो रक्षा सहायता के लिये हम जो कुछ कर सकें करना चाहिये। उलटा इन्हें मारना और यज्ञ के नाम से। इनके तो रक्षित रखने की प्रार्थना करनी चाहिये। "यजमानस्य पशून् पाहि"। सब भूल इसमें है कि अपनी जगह पराया और नकल की जगह असल समझ लेना। यह तो ऐसा हुआ कि गणिताध्यापक प्रश्न लिखने को कहे कि 'उसमें से १०० मोहन को दे दो' तो कोई लडका इसे स्लेट पर लिखने की जगह उठकर मोहन को १००) देने ही चल देवे। अस्तु। यह तो हुवा अध्यात्म यज्ञ में अपने पशु का बलिदान।

इसी प्रकार संगठन यज्ञ में भी अपने पशु का बलिदान किया जाता है। राष्ट्र पुरुष अपने अन्दर के वीरों का युद्ध में बलिदान करता है। राष्ट्र के वे वीर उसके अङ्ग होते हैं, अपने होते हैं। मनुष्य संगठन यज्ञ के पशु कोई मनुष्य ही होंगे। सैनिकों या अनुयायिओं को पशु इसी लिये कहा जा सकता है क्योंकि वे 'अभिनिवेश' पशु को निकालने के लिये ही मरने को उद्यत होते हैं। वे मनुष्य अपनी इच्छा से राष्ट्र के लिये मरते हैं अतः यूं कहा जा सकता है कि राष्ट्र स्वेच्छा से उनका बलिदान करता है। बारदोली के प्रस्ताव पर जब

लोगोंने गांधीको कहा कि आप के सत्याग्रह स्थगित कर देने के कारण जो लोग जेल में सड रहे हैं उनका क्या होगा, तो गांधीने कहा कि "यदि वे स्वेच्छा से जेल नहीं गये हैं और अत एव लगातार देरतक जेल के कष्ट नहीं सह सकते तो उन्हें माफी मांग कर आजाना चाहिये, परन्तु यदि वे स्वेच्छा से देश के लिये कष्ट सहने जेल गये हैं तो मैं उन्हें वलिदान करता हूं, चौरीचौरा के पाप के प्रतिकार के लिये यह मेरा पहिला बलिदान है"। तात्पर्य यह हुवा कि गांधी के अनुयायिओं का देर तक जेल में कष्ट पाना गांधी का अपना बलिदान है। स्वेच्छा से मरने वाले अनुयायि नेता के अंग होते हैं। अब राष्ट्र के पशु का और अधिक स्पष्ट उदाहरण ले लीजिये। राष्ट्र में जो मनुष्य घातक मनुष्य (पशु) होता है उसे फांसी चढाकर राष्ट्र आत्म वलिदान करता है। वह मनुष्य भी राष्ट्र का अवयव है, परन्तु क्यों कि ऐसे आदमी के जीवित रहने से राष्ट्र विगडता है अतः उस पशु का वलिदान कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य पशु धर्म के नाम से, यज्ञ के नाम से, अपने नर मेध में किसी निरपराध मनुष्य प्राणी को काट डालता है या किसी विचारे रक्षा पात्र दयनीय गौ आदि पशु को काट डालता है तो वह निश्चय से राष्ट्र का पशु है। आज यदि वैदिक राष्ट्र हो तो या तो उसमें कोई ऐसा नर पशु ही न होगा। यदि उसमें भी होगा तो उसको प्राण दण्ड देने का वेद में विधान है—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन
पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीर-
मग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥ अथ० ८-३-१५

"जो राक्षस मनुष्य-मांस से या घोडे के या अन्य पशुमांस से अपने को पुष्ट करता है या जो अहन्तव्य गौसे दूध छीनता है, हे अग्नि! तू शीघ्र उनके सिर काट दे"। यह राष्ट्र यज्ञ के हीन पशु हैं। पहिले कहे गये सैनिक उच्च पशु होते हैं, कि वे स्वेच्छासे मरते हैं और मनुष्य से देव बनते हैं, किन्तु ये पशु से मनुष्य बनाने के लिये मारे जाते हैं।

वे स्वेच्छासे मरते हुवे स्वयं एक बडे पुण्यप्रद यज्ञ के कर्ता होते हैं, किन्तु ये यज्ञ के लिये मारे जाने वाले पशु ही बनते हैं। असल में तो यही चाहिये कि राष्ट्र के लिये पुरुष स्वेच्छा से ही मरने को तैयार हो परन्तु जब संपूर्ण राष्ट्रको ऐसे पुरुषों के जीवित रहने से हानि होती है और उनके बलात्कार वध के सिवाय और कुछ उपाय राष्ट्र नहीं कर सकता तो राष्ट्र इन्हें प्राण दण्ड दे देता है। इसी सिद्धान्त को और आगे ले जाकर जब हम देखते हैं कि सिंह व्याघ्रादि हिंस्र जन्तु राष्ट्र का नाश करते हैं और इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है तो इन हिंस्र जन्तुओंको भी राष्ट्र के लिये बलिदान कर दिया जाता है। परन्तु बिचारी दीन गौ के मार डालने का उतना ही पाप है जितना कि एक निरपराध मनुष्य को मार डालना। ऐसा काम कोई राष्ट्रका हन्तव्य हीन पशु ही करता है, वह भी हिंस्र जन्तु ही है।

इस प्रकार ईश्वरीय महा संसार यज्ञ में जो प्राणी मरते रहते हैं, ये सब उसके पशु हैं, इन द्वारा ईश्वर आत्मबलिदान करता रहता है और संसार यज्ञ चलता रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक यज्ञ में अपने अन्दर के पशु ओं द्वारा आत्म बलिदान किया जाता है। परन्तु इतनी स्पष्ट बात अज्ञान के कारण या स्वार्थ वश यदि किसी के समझ में न आवे,

उलटो समझ में आवे तो क्या किया जाय। जिन्हें आत्म बलिदान का अर्थ दूसरे की हिंसा समझ पडता है ऐसे ही अज्ञानिओं से सतायी गई विद्या रोती हुई ब्राह्मण के पास आयी थी कि 'हे ब्राह्मण ! तू मेरी इन से रक्षा कर'। या जिनकी अकल मारी गयी है उनको बलिदान की विद्या का उपदेश कभी न करें, वे इसका उलटा ही अर्थ समझेंगे। भारत के हिन्दु और मुसल्मान इसकी जगह कि अपने राष्ट्रके लिये आत्म बलिदान करें एक दूसरे के सिर फोडने में लगे हुवे हैं। यह मूर्खों को उच्च ज्ञान बतलाने का फल है या—

" विनाशकाले विपरीतबुद्धिः "

३५ वैयक्तिक यज्ञ।

अब हम मनुष्य संगठन यज्ञों का प्रकरण समाप्त कर वैयक्तिक यज्ञों पर आते हैं। पाठकों को स्मरण होता है कि " वैयक्तिक " 'यज्ञ' यह नाम हमने संसार महा यज्ञ या संगठन यज्ञों के अङ्गभूत कर्मों का रखा था। संगठन यज्ञों के अंगों का वर्णन तो पहिले हो ही चुका है। किन्तु संसार महा यज्ञ के अंग कर्म बहुत हैं, सैंकडों हैं, हजारों हैं। इस विशाल संसारकी एक एक वस्तु से संबंध करना एक एक यज्ञ कर्म है। क्योंकि संसार के अंग-भूत ये यज्ञ कर्म बहुत हैं और इनके अंगी विश्वका सदा स्मरण रखना बडा कठिन है, अत एव इन-अंग कर्मों को यज्ञही कह दिया जाता है। परन्तु हमें अब बात समझ लेने पर इस विवाद की कुछ आवश्यकता नहीं कि यज्ञ इन अंगों का नाम है या अङ्गीही यज्ञ है। यदि आप इन अंगों को ही यज्ञ कहना चाहें तो जो संगठन यज्ञ हैं या संसार यज्ञ व मनुष्य जीवन यज्ञ हैं इनको यज्ञपुरुष (यज्ञों का बना पुरुष) कहिये। मैं भी सहूलियत के

लिये इन्हें यज्ञ-वैयक्तिक यज्ञ-ही पुकारूंगा।

पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि उपर्युक्त हवन प्रक्रिया यज्ञ के प्रत्येक अंग में होती है। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रत्येक अङ्ग में पूरी हो जाती है इस लिये भी प्रत्येक अङ्ग को यज्ञ कह देना चाहिये। एवं प्रत्येक वैयक्तिक यज्ञ में एक हवि, एक अग्नि तथा एक फल होता है। उदाहरणार्थ यज्ञ के देवपूजा अङ्ग में वहां अनुसरणार्थ जो जो बलिदान करना होता हैं वह हवि है, श्रद्धा अग्नि है, तथा नेतृत्व फल है जिसको कि (आदान) प्राप्ति होती हैं। एवं मध्याङ्ग और अधराङ्ग में भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक वैयक्तिक यज्ञ में हम जब कभी संसार की किसी वस्तु (बडी, बराबर की या छोटी) से संबंध करते हैं तो उसमें हवन प्रक्रिया होतो है। संबन्ध के लिये हम जो कुछ देते हैं वह हवि होती है जिस द्वारा हवि जाती है या संबन्ध जुडता है वह अग्नि होती है और जो कुछ उस संबन्ध से हमें मिलता है वह फल होता है। इस लिये वैयक्तिक यज्ञ का लक्षण वह हुआ कि " यज्ञ पुरुष (संसार यज्ञ, संगठन यज्ञ या मनुष्यजीवनयज्ञ) के आधीन अपना दूसरे के साथ हवन प्रक्रिया द्वारा ठीक ठीक संबन्ध रखना वैयक्तिक यज्ञ है। अब पाठक समझेंगे कि यज्ञ शब्द का इतना प्रयोग ग्रन्थों में क्यों है ? प्रत्येक कार्य को ही यज्ञ क्यों कह देते हैं ? इस लिये क्यों कि संसार में प्रत्येक दूसरे वस्तु के साथ ठीक संबन्ध रखना यज्ञ है। हमारा प्रत्येक कर्म या तो यज्ञ होगा या अयज्ञ होगा, क्यों कि हम प्रत्येक कर्म द्वारा किसी दूसरे से संबन्ध ही करते हैं। यदि यह संबन्ध ठीक हुवा है तो वह कर्म यज्ञ है। यदि संबन्ध बिगडा है तो वह कर्म अयज्ञ है। इस प्रकार संसार की एक एक वस्तु

के साथ अपने ठीक संवन्ध से जुडे रहना एक एक वैयक्तिक यज्ञ है। इस लिये यज्ञों के इतने नाम पड गये हैं। ऐसे अनन्तों वैयक्तिक यज्ञ होते हैं।

३८ पंचमहायज्ञ।

वैयक्तिक यज्ञों में पंच महायज्ञ सब से मुख्य हैं। ये निम्न लिखित हैं-

(१) ब्रह्मयज्ञ।
(२) देव यज्ञ।
(३) पितृ यज्ञ।
(४) भूत यज्ञ।
(५) मनुष्य यज्ञ।

इन पांच यज्ञों द्वारा मनुष्य अपना संवन्ध सब संसार से ठीक रखता है और दानादान करता हुवा उन्नत होता जाता है। ब्रह्म यज्ञ द्वारा वह सबसे बडे परमात्मा के साथ अपना संबंध करता है, देव यज्ञ द्वारा परमात्मा के अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों से अपना संवन्ध जोडे रखता है, तथा पितृ यज्ञ द्वारा अपने से बडे मनुष्यों से संबन्ध ठीक रखता है [एवं ये तीनों देवपूजा अङ्ग में आगये, तीनों में अपनेसे बडों से संवन्ध है] चौथे यज्ञ से अपने छोटे रोगी, हीन, पशु, पक्षी आदि से भी अपना संवन्ध ठीक रखता है (दान) तथा पांचवे अतिथि यज्ञ से मनुष्यों की सेवा द्वारा सब बराबर वालों से अपना संबंध ठीक रखता है। (संगति करण) इन यज्ञों को प्रतिदिन करता हुवा मनुष्य सब संसार से ठीक तरह जुडा रहता है। इस लिये ये पांचों महा यज्ञ समझे जाते हैं। अन्य सब वैयक्तिक यज्ञ इन्हीं पांचों में समा जाते हैं। असल में तो ये तीन ही (देव पूजा, संगतिकरण) यज्ञ हैं

किन्तु देवपूजा के त्रिविध होने के कारण (ईश्वर के साथ, आधिदैविक देवों के साथ, बडे मनुष्यों के साथ) पांच हो गये हैं ।

इनमें पहिला दूसरा और चौथा संसार महायज्ञ के अंगभूत यज्ञ हैं तथा तीसरा और पांचवां मनुष्यसंगठन यज्ञों के अङ्गभूत भी हैं। अब हम नीचे के क्रम से प्रत्येक महायज्ञ की कुछ व्याख्या करेंगे -

३७ अतिथि यज्ञ ।

इसका अर्थ यह है कि घर में जो कोई भी मनुष्य मात्र आवे उसको भोजन आदि देकर सुखी करना। इस यज्ञ में 'मनुष्य मात्र से प्रेम' अग्नि है। अतिथि के सत्कार में सब कुछ किया गया प्रेम कर्म हवि है और सब मनुष्यों के साथ प्रेमसे रहने का सुख फल है। अथर्व वेद के ८-९ सूक्त तथा कई अन्य स्थलों पर भी इस अतिथिपूजन का प्रबल शब्दों में उपदेश है। वैदिक सभ्यता में अतिथि से पहिले खाना, उसको कुछ भी कष्ट पहुंचाना बडी हानि पहुंचाने वाले पाप समझे जाते हैं। इस यज्ञ का महापन इस बात में है कि इसमें सब संसार के मनुष्य हमारे भाई समझे जाते हैं। इस प्रकार यह सब संगठन यज्ञों का मूल है। यह मनुष्य को प्रत्येक दूसरे मनुष्य के साथ मनुष्य होने के कारण ही आत्मवत् प्रेम करना सिखलाता है। अतः केवल दूसरेको भोजन खिला देने से इस यज्ञ की पूर्ति नहीं समझ लेनी चाहिये।

३८ भूत यज्ञ ।

यह इस बात का सूचक यज्ञ है कि मनुष्य को अपने से सब छोटों को पालना चाहिये, रक्षा करनी चाहिये। मनु महाराज ने सब छोटों को निम्न ६ विभागों में रखा है और तदनुसार इस यज्ञ की विधि यह है कि भोजन खाने से पहिले इनके नाम के ६ ग्रास निकाल कर भोजन शुरू करें। वे छे निम्न हैं—

(१) पतित (४) श्वा
(२) श्वपच (५) वायस
(३) पापरोगी (६) कृमि

इनमें से पहिले तीन किसी कारण हीन अवस्था में पहुंचे हुवे मनुष्य ही हैं। पतित का अर्थ है अपनी साधारण अवस्था से गिरा हुवा मनुष्य। सभी रोगग्रस्त, दुष्कालपीडित, मानस व्यथा से पीडित या महायंत्र प्रवर्तन के कारण वेकारी या गरीबीसे पीडित 'पतित' कहलायेंगे। उनकी रक्षा करना, सेवा करना भूतदया का पहिला लक्षण है। श्वपच या चांडाल का अर्थ किन्हीं 'कुत्ते को खाना' आदि अधर्माचरण के कारण समाज से गिरे हुवे पुरुषों का नाम प्रतीत होता है। इनका उद्धार करना भूत यज्ञ का दूसरा लक्षण है। एवं कुष्ट आदि घृणित रोगों से पीडितों की भी सेवा करनी चाहिये। इन हीन हुवे मनुष्यों के नीचे (श्वा) कुत्ता आदि सब पशुओं की, (वायस) कौआ आदि सब पक्षिओंकी तथा (कृमि) कीडे मकौडे तक सब क्षुद्र जन्तुओं की भी पालना करना भूतमहायज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ कहाता है। यह तो स्पष्ट है कि यह महायज्ञ केवल छे ग्रास निकाल देने से पूरा नहीं हो जाता। ग्रास निकालना तो केवल चिन्ह मात्र है। इन

सब की सेवा का अवसर प्रति दिन न आते रहने से कहीं हम अपने धर्म को न भूल जांय इस लिये प्रति दिन इन के निमित्त ग्रास निकालते हुवे इसे स्मरण रखा जाता है । भोजन से पहिले निकाल ने का अर्थ यह है कि इनकी सेवा पहिले, अपना भोग पीछे अर्थात् हमें अपना भोग छोड करके भी इनकी सेवा करनी है । अब यदि कोई पतित और पाप रोगी आदिओं की सेवा नहीं करता किन्तु ६ ग्रास रोज निकालता हुवा समझता है कि मैं भूत महा यज्ञ कर रहा हूं तो वह बडे भारी धोखे में है। ऐसे हिन्दू इस देश में वहुत मिल जांयगें, जो कि इन छे ग्रासों की विधि पूरी करते होंगे, परन्तु पतितों का उद्धार धर्मविरुद्ध बतलांयगे, बिचारे चांडालों को छुवेंगे भी नहीं तथा कुष्ट रोगिओं के पास नहीं फटकेंगे । सच मुच हमारे यज्ञों में से आत्मा निकल चूकी है, केवल बाह्यावडंबर शेष रह गया है। यह यज्ञ भी वहुत अंशों में हम लोगों की अपेक्षा दूसरे ही अधिक करते हैं। कई सच्चे ईसाई यहां इस देश में कोढियों की इतनी सेवा करते हैं कि उनके लिये हृदय में बडा सन्मान पैदा होता है। पतितों का उद्धार अपने मतानुसारी ढंग से ईसाई और मुसलमान भी सदा करते रहते हैं, किन्तु हिंदुओंको इसका कुछ होश नहीं है । इंग्लैंड में पहिले कोढ की बीमारी बहुत ही अधिक होती थी, पर उन्होंने थोडेही समयमें इसका नामनिशान अपने देश से मिटा दिया है। पशुओं का हिस्सा निकालने का अर्थ हिंदुओं के बडे भारी धर्म गोरक्षा से है। किन्तु यह स्मरण आनेपर सिर लज्जा से झुक जाता है कि हिन्दुस्थान को छोड शेष सभी देशों में गौवों की संख्या यहां से बहुत अधिक है, वे बहुत अच्छी हालत में है और बहुत दुध देनेवाली हैं। इनकी धर्म पुस्तक

वेद में तो गौ और घी, दूध का बहुत वर्णन है। पर अब इस देश में गौ नाम लेने के लिये ही रह गयी है। हिन्दुओं को कोई समझा दे कि पहिली रोटी गाय के नाम से रख लेने से या ग्रास देने से गोरक्षा नहीं हो जायगी, इसके लिये तो आष्ट्रेलिया आदि देशों की तरह क्रियात्मक बहुत से यत्न करने होंगे। इसी तरह अन्य देशों में बैल, भेड, बकरी घोडे आदि सभी पशुओंकी वृद्धि और उन्नति की जाती है, इन्हें राष्ट्रीय संपत्ति समझा जाता है। पर भूत यज्ञ का दावा करने वाले हिन्दुस्थान में यह कुछ भी नहीं है। केवल ये पशु ही नहीं, किन्तु पक्षी भी और छोटे छोटे परम असहाय कीडे मकोडो तक जो कुछ प्राणी हैं इन सब की रक्षा का भार बडा कहलाने वाले मनुष्यपर जगद्रचयिता ने छोड रखा है। अतः हमें उन्हें कभी भी हानि तो पहुंचानी ही नहीं चाहिये, अपि तु जो कुछ हम कर सकें इनके पालनार्थ करना चाहिये। परन्तु पालना का अर्थ यूं ही खिलाना नहीं है, काम लेना और खिलाना इसी सिद्धान्त से पशुओं की भी पालना होती है और होनी चाहिये। भूत महायज्ञ की प्रथाको चलाने वाले ऋषि जानते थे कि महायन्त्र प्रवर्तन को हटाकर न केवल मनुष्यको बेकारी से बचाना चाहिये अपि तु पशुओं को भी बेकारी से बचाकर पालना चाहिये। अत एव कृषि आदि बैलों से की जाती थी, यानों में हाथी, घोडे काम में आते थे एवं सब पालतू पशुओं की रक्षा होती थी। शहद व्यवहार द्वारा मधु मक्षिकाओं की पालना होती है यह भी कहा जा सकता है। पाश्चात्य लोग भी इसी सिद्धान्त से गोरक्षादि करते हैं। भेद इतना है कि वे जहांतक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है वहीं तक पशुओंको पालते हैं। यदि बहुत से घोडे बेकार हो

गये हैं तो उन्हें गोलिओं से खतम कर दिया जाता है। परन्तु भूत यज्ञ करने वाले इन इन असहायों की पालना करने में ही अपना स्वार्थ समझते हैं और किन्ही कारणों से इन दयनीय पशुयोनिओं में आये हुवे हमारे जैसे जीवों को अपने छोटे गिरे हुवे भाई समझ कर पालना कर्तव्य अनुभव करते हैं।

भूतयज्ञ में भी पूर्ववत् जो रक्षा पालना के लिये त्याग किया जाता है वह 'हवि' है, सहानुभूति या जिस द्वारा यह त्याग पहुंचता है वह अग्नि है तथा इस पुण्य से मिलने वाला नाना प्रकार का सुख फल है।

३१ पितृ यज्ञ।

अब अपने से बड़ों से संबन्ध कराने वाले तीन यज्ञ शेष रह गये। इनमें पहिला पितृयज्ञ है। इस द्वारा माता पिता आचार्य तथा अग्निष्वात्तादि पितरों की पूजा की जाती है। यह यज्ञ मनुष्यसंगठन यज्ञ का अंग है। माता पिता की पूजा कुटुम्ब यज्ञ में तथा आचार्य की पूजा गुरु कुल यज्ञ में आजाती है। मनुमें (२-१३१) कहा है कि पिता गार्हपत्याग्नि है, माता दक्षिणाग्नि है और आचार्य आहवनीयाग्नि है। इन श्रेष्ठतर अग्नियों में पितृयज्ञ होता है और माता पिता गुरु की सेवा की जाती है। एवं अग्निष्वात्त आदि भी कोई पालक पुरुष होते हैं, इनकी भी सेवा शुश्रूषा आदि करनी चाहिये। इन सबको अपनी भक्तिप्रेरित श्रद्धामय सेवाओं से तृप्त करना ही पितृयज्ञ है, तर्पण है, श्राद्ध है। इस-यज्ञका 'महा' पन इस बात में है कि ये पितृलोग ही समाज, देश व संसार के भावी स्तंभों —नव युवकों को बनाने वाले होते हैं। अतः इन की तृप्ति (तर्पण) होना आवश्यक है।

४० देव यज्ञ।

यह प्रसिद्ध यज्ञ है। अपने पूज्य मनुष्यों के बाद मनुष्यों से बड़े जो संसार के अग्नि, वायु आदि देव हैं जो कि ईश्वर के संसार महायज्ञ को चलाने वाले हैं उन आधिदैविक देवों की पूजा इस यज्ञ से की जाती है। प्रसिद्ध अग्नि होत्र तथा अन्य सब यज्ञ जिन में कि कुंड में भौतिक अग्निस्थापन पूर्वक घृत अन्नादि हवि देवों को पहुंचायी जाती हैं ये सब देव-यज्ञ हैं। इसकी विधियां भी कई बातों की चिन्ह होती हैं, जैसे कि अग्निको क्रमशः बढ़ाना, आत्मा को समाज व राष्ट्र को बढ़ाने का चिन्ह हैं तथा एक एक मंत्र पढ़ कर हवी डालते जाना सतत बलिदान का चिन्ह हैं। इन यज्ञोंके फल भिन्न भिन्न होते हैं। हमारा विश्वास है कि साधारण नैत्यिक अग्नि होत्र से वायु शुद्धि होती है तथा वृष्टि होने में सहायता मिलती है। गीता में भी कहा है कि 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः।' सब प्राकृतिक अवस्थाओं को ठीक रखना इन देव यज्ञों से सिद्ध होता है, क्योंकि इस यज्ञद्वारा हमारा प्राकृतिक देवों से ठीक संबन्ध रहता है। अग्नि-होत्र में जिस जिस प्रकार की हवि डाली जाती है उस उससे भिन्न भिन्न प्रकार का असर वायुमण्डलमें उत्पन्न होता है। प्रतिदिन के अग्निहोत्र के अतिरिक्त प्रति पूर्णिमा और अमावास्या के दिन पौर्णमास और दर्शेष्टि की जाती है। एवं चातुर्मास में तथा अन्य ऋतुओं पर भिन्न भिन्न प्रकार की हवि द्वारा उस उस प्राकृतिक अवस्था से अपनी अनुकूलता प्राप्त की जाती है। परन्तु जैसे कि पहिले कहा जा चुका है, अब ये सब कर्मकाण्ड लुप्त-प्राय हैं। अतः इनका ठीक ठीक रूप अभी नहीं समझ में आ सकता है। इस हवि से क्या प्रभाव होगा इत्यादि बातों

की हमें पाश्चात्य परीक्षण के ढंगों से परीक्षण करके फिर से इस कर्म-काण्ड को तर्क द्वारा स्थापित करना होगा। अतः इस विषय पर इस से पहिले अधिक लिखना निष्प्रयोजन है। इन्हीं यज्ञों को मैंने पूर्व प्रकरणों में 'सूक्ष्म यज्ञ' नाम से पुकारा है। सूक्ष्म यज्ञ से मेरा तात्पर्य यही है कि जिन यज्ञों की हवि और क्रियाओंका फल के साथ कारण-कार्य-संबन्ध स्थूल दृष्टि से समझ नहीं आता है उन्हें मैं सूक्ष्म विशेषण से पुकारता हूं। यदि इनका लोगों में प्रचार करना है तो उनके क्रिया और फल में कारण कार्य संबंध को बतलाना होगा, तभी यज्ञ एक विज्ञान (Science) बन सकेगा। प्राचीन कर्मकाण्ड में तो मनुष्य की एक एक कामना को पूरा करने के लिये एक एक अग्निहोत्र बताया गया है। वर्षा हो या वर्षा बंद हो, वायु चले या तेज धूप निकले, रोग दूर हों, विद्या बुद्धि बढ़े, तेज बढ़े, मैं ज्येष्ठ श्रेष्ठ होऊं, राज्य मिले, ऐश्वर्य मिले, तेजस्वी विद्वान या बली पुत्र उत्पन्न हो आदि आदि सब कामनाओं को पूरा करने के लिये आधि दैविक यज्ञ हुवा करते थे और इन प्राकृतिक देवों की सहायता से वे सब फल प्राप्त किये जाते थे। परन्तु इन सब बातों पर आज कौन विश्वास कर सकता है। इन सब सूक्ष्म यज्ञों को हमें फिर स्थापित करना चाहिये।

४१ ब्रह्म यज्ञ.

अन्त में सबसे बड़े परमात्माके साथ संबन्ध जोड़ना ब्रह्मयज्ञ है। दैनिक कृत्यों में संध्या ब्रह्मयज्ञ है। परमात्म-दर्शन के लिये अपने अन्दर जितनी मन प्राण आदि द्वारा क्रियायें की जाती हैं वे सब ब्रह्मयज्ञ हैं। गीता

के चौथे ज्ञानयोग नामक अध्याय में जो संयमयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ आत्मसंयमयोग यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, प्राणयज्ञ, अपानयज्ञ. कुंभकयज्ञ, प्राणाग्निहोत्र यज्ञ आदि यज्ञ वर्णन किये हैं वे सब ब्रह्मयज्ञ में आते हैं। यह आन्तर यज्ञ है अतः सब से मुख्य और प्रभावशाली यज्ञ है। सब बाह्य यज्ञ वास्तव में इस आन्तर यज्ञ की सहायता के लिये ही हैं। जो यह यज्ञ पूर्णतया कर सकता है उसे बाह्य यज्ञों की आवश्यकता नहीं रहती, अतः संन्यासी जो कि सदैव ब्रह्मयज्ञ करता रहता है अन्य सब यज्ञों से मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान ने अपनी विभूतिओं में कहा है कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ।' यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ श्रेष्ठ है और ब्रह्मयज्ञ में भी, जपयज्ञ इस लिये श्रेष्ठ है क्योंकि यह निरन्तर चलता हुवा मनोवृत्ति को एक रंगमें रंग कर शीघ्र मनोनिरोध करा देता है। योगदर्शन में भी प्रणव जपद्वारा 'आत्मदर्शन तथा विघ्नों का नाश' यह बडा भारी फल बतलाया है। सब ब्रह्मयज्ञ ज्ञानको प्रकाशित करते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ भी 'ज्ञान' होता है। अत एव इस अन्दर के यज्ञ का नाम ज्ञानयज्ञ भी कहा जाता है। भगवद्गीता में इस यज्ञ की प्रशंसा इस प्रकार की है।

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते।

गीता ४—३३

अतः सब कर्मयज्ञों से (जिनमें कि किसी बाह्य द्रव्य की भी आवश्यकता होती है) ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ है, क्यों कि सब कर्म अन्तमें ज्ञान में ही समाप्त हो जाता है। अथवा यूं कहना चाहिये कि ज्ञानकर्म ही सब से ऊंचा और प्रभावशाली कर्म है। सब योग क्रियायों से विवेक ख्याति अर्थात् ज्ञानप्रकाश

होता है। योगोक्त धारणा, ध्यान और समाधि ब्रह्मयज्ञ की उच्च अवस्थायें हैं। इन ब्रह्मयज्ञों के जो बडे बडे आश्चर्यकारी फल प्राप्त होते हैं वे योगदर्शन के विभूति योग में वर्णित हैं। ये ये फल अवश्य प्राप्त होते हैं इस बात में विश्वास न रखने वाले मनुष्य बहुत हैं। परन्तु ये सब फल योग नामक ब्रह्मयज्ञों से जरूर मिल सकते हैं और मिलते हैं ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रत्येक ब्रह्मयज्ञ में पूर्ववत् हवि, अग्नि और फल निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। हवनप्रक्रिया ब्रह्मयज्ञ में भी होती है, परन्तु यह सूक्ष्म होती है। यह दिखायी नहीं देती, परन्तु फल से अनुमित हो सकती है। उपनिषद् में आता है कि ब्रह्म ज्ञान होने पर चेहरा बदल जाता है अतः एक ब्रह्मज्ञानी जान लेता है कि 'ब्रह्मविदिव भासि'। इस बाह्य फल से हम अनुमान कर सकते हैं कि ब्रह्मज्ञान होते ही उसमें कुछ भेद आगया है। जैसे कि अग्नि के पास बैठते ही शीत दूर होता है, वैसे ही ब्रह्मयज्ञ की उच्च अवस्थाओं में तुरंत फल मिलता है, यद्यपि केवल इस स्थूल जगत् में रहने वाले हम इसकी प्रक्रिया को नहीं समझ सकते। यह भी स्पष्ट है कि इतने बडे फलों को लाने के लिये हवि भी बहुत बडी होती है। ब्रह्मयज्ञकर्त्ता अपना सब प्राकृत्तिक भोग छोड देता है, सब वस्तुओं की कामनाओं के त्यागने की हवि देता है। पुत्र, धन, मान एषणाओं को त्यागने वाला संन्यासी सदा ब्रह्मयज्ञ का आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्मयज्ञ की अन्तिम अवस्था वैयक्तिक सर्वमेध है। एक जीवनमुक्त अपना शरीर, मन, इन्द्रियें, आत्मा अपना एक एक कर्म दिन भर में चलाने वाला एक एक प्राण अर्थात् पूर्णतया सब कुछ ब्रह्माग्नि में डालकर सर्व को प्राप्त कर लेता है। यह वैयक्तिक यज्ञ की पराकाष्ठा है। यह ब्रह्मयज्ञ सबसे बडा यज्ञ है।

४२ सूक्ष्म यज्ञों का उद्धार ।

संगठन यज्ञों के प्रकरण में लिखे प्राचीन यज्ञों में तथा अभी वर्णन किये देव यज्ञों में और ब्रह्मयज्ञों में बहुत से ऐसे यज्ञ हैं जिन में कार्यकारणभाव को अभी हम बतला नहीं सकते। इनको कर सकना तो अभी दूर ही है। इस लिये इनका होना न होना हमारे लिये एक बराबर है। परंतु हमारी तरह बहुतों की यह इच्छा होगी कि इन लुप्तयज्ञों का फिर उद्धार होना चाहिये। पर यह उद्धार कैसे हो। प्रथम तो जैसा कि हमने इस निबन्ध के प्रारंभ में लिखा है हमें यज्ञ के तत्त्व का समझ लेना चाहिये। मेरा विचार है जो मनुष्य सामान्यतया यज्ञ तत्त्व को समझता है उसे यज्ञों में विश्वास भी होगा। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य सामान्यतया यज्ञ के स्वरूप को समझता है और जिसको सूक्ष्म यज्ञों के फलों में विश्वास है कि ऐसे यज्ञ से यह फल मिल सकता है वही पुरुष स्वयं परीक्षण करके इन सूक्ष्म यज्ञों के कार्यकारणभाव को बतला सकता है। जब कि ऐसे पुरुष अपना जीवन लगा कर परीक्षणों से अनुभव प्राप्त करते हुवे बतला सकेंगे कि इस प्रकार के यज्ञ से वर्षा क्यों होती है, इस इष्टिसे पुत्रजन्म कैसा हो जायगा, या इस योगसाधना से फलानी सिद्धि कैसी मिल जायगी, तभी इस जीर्ण यज्ञसंस्था का पुनरुद्धार हो सकता है। परंतु यह सब भी अकेले अकेले करने का काम नहीं है। जब तक कि हम इस यज्ञसंस्था के उद्धारकार्य को संगठित होकर नहीं करेंगे और संगठन यज्ञों में वर्णित नियमों के अनुसार ही इस संगठन को नहीं चलायंगे तब तक हमारे यत्न व्यर्थ जायंगे। कोई श्रद्धालु और यज्ञोन्नति चाहनेवाले कर्मयज्ञों की हविओं के परीक्षण करें, कोई पुराने ग्रंथों का अनुशीलन करें और कोई योग

की उच्च अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त करें और फिर अपने अपने अनुभवों से विधिवत् एक दूसरे को लाभ पहुंचाते हुवे मिलकर काम करेंगे तो हम इस यज्ञद्वारा ही प्राचीन यज्ञों का उद्धार कर सकेंगे इसी लिये मैंने इस लेख में संगठन यज्ञों पर विशेष बल दिया है। ये जो पंचमहायज्ञ हैं, यदि हम इनका भी फिर घर घर में प्रचार करना चाहते हैं तो वह भी संगठन यज्ञों के ठीक ठीक चलने से ही होगा। अतः आशा है इस लेख को पढनेवाले पाठक पहिले अपने अपने संगठन यज्ञों को ठीक करने का यत्न करेंगे यज्ञसेही यज्ञ का उद्धार होना है।

४३ संसार की नाभि।

संगठन यज्ञ और वैयक्तिक यज्ञों का वर्णन पूरा होगया। अब पाठक अनुभव कर सकते हैं कि पूर्वोक्त नाना प्रकार के मनुष्य संगठन यज्ञों, सहस्रों वैयक्तिक यज्ञों तथा पंच महायज्ञों और सब से अधिक ईश्वरीय देवोंके महायज्ञ के कारण ही यह सब संसार बंधा हुवा है, बिखरता नहीं है। यदि संसार में यज्ञ न हो तो प्रत्येक प्राणी और वस्तु (यदि जीवित रहे) जुदा जुदा पडी हुई नष्ट हो जाय या अयज्ञ शक्ति द्वारा परस्पर टकराई जाकर संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि में सब संसार भस्म हो जाय। परंतु सबके मूलमें यज्ञस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं, उनकी प्रेरणासे उनके सूर्य वायु, अग्नि आदि देव ठीक ठीक बिलकुल त्रुटिरहित महायज्ञ कर रहे हैं जिससे कि इस अगम्य विश्व के ब्रह्माण्ड तथा लोक-लोकोत्तर एक दूसरे से जुडे हुवे हैं। एवं यह मनुष्य संसार भी यज्ञ से ही जीवित रहता है। मनुष्य में स्वभावतः यज्ञ का भाव है, अतः वह दूसरों से प्रेम करता है और उनके लिये खुशी से बलि-दान करता हुआ उनसे जुडा रहना चाहता है। यदि मनुष्य के

अन्दर यह यज्ञ न रहे तो सब मनुष्य संसार आज ही लडभिड़ कर नष्ट भ्रष्ट हो जाय। मनुष्य चाहे कितना यत्न करे वह यज्ञ को सर्वथा त्याग नहीं सकता। वह जितना यज्ञ को त्यागता है उतना ही संसार यज्ञ के आधीन होने के कारण वह कष्ट पाता रहता है और यदि वह यज्ञका अधिक उल्लंघन करता है तो यह संसार स्वभावतः उसका नाश कर देता है और इस प्रकार अयज्ञ का नाश करते हुवे अपनी स्वाभाविक गतिसे चलता जाता हुवा यह संसार इस वेद वाक्य की प्रामाणिकता की गवाही देता है कि-

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।

अब केवल मनुष्य जीवनयज्ञ का वर्णन शेष रह गया है।

४४ मनुष्य यज्ञ।

पाठकों ने देखा होगा कि यद्यपि हमने ईश्वरीय संसार महायज्ञ का नाम तो वहुत जगह लिया है किन्तु इसका निरूपण कहीं नहीं किया। इसका कारण यह है कि इस अनन्त महिमोपेत, विश्वरूप, अनन्तों सूक्ष्म और स्थूल अंगों में सुव्यवस्थित, इस संसार महायज्ञ को समझना हमारे लिये शक्य नहीं है। हम इस संसारके कुछ भाग को ही जानते हैं और इस ज्ञान से ही आगे चलते हैं। यह ठीक है कि अन्त में इस सब विश्व के रहस्य को मनुष्यने जानना है और जानना शक्य है।

अत एव मनुष्य अपने वैयक्तिक यज्ञों द्वारा तथा संगठन यज्ञों द्वारा इसी महायज्ञ के रहस्य को समझनेकी चेष्टा करता रहता है। परन्तु अन्ततः यदि हम इसे किसी तरह जानते हैं तो वह अपने आपको — अपने सूक्ष्म स्थूल सम्पूर्ण शरीर जीवन को समझने द्वारा ही जानते हैं, क्यों कि यह मनुष्य-जीवन भी बिलकुल संसार महायज्ञ जैसा छोटासा यज्ञ है।

हमारे शरीर में ही सब संसार छिपा हुआ है। पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ द्वारा अपने शरीर में इस सब महा-संसार को पूर्णतया देखना होता है। अन्त में जब मनुष्य सर्वमेध यज्ञद्वारा अपने में इस सब महासंसार को - इस के पर अपर सर्व रूप को - दर्शन प्राप्त कर लेता है तभी कृतकृत्य होता है। अतः मनुष्य जीवन यज्ञ का महत्त्व हमारे लिये बहुत है। यह यज्ञ हमारे सब से अधिक नज़दीक का यज्ञ है। यह मनुष्ययज्ञ हमारे सब यज्ञों का आधार है, क्यों कि मनुष्य जीवन में ही मनुष्य अन्य सब यज्ञ करके कृतकृत्य होता है। अतः अन्त में हम अब इस मनुष्य जीवनयज्ञ का थोडासा वर्णन करके-इसकी व्याख्या में यह भी दिखला कर कि हम भारत वासियों की इस आधार यज्ञ में भी कैसी दुर्दशा है- इस निबन्ध को समाप्त करेंगे।

इस मनुष्य यज्ञ का वर्णन भी शास्त्रों में बहुत जगह है, जैसे कि नारायण तथा प्राणाग्नि होत्रोपनिषद् में है। इस यज्ञ के अङ्गभूत भी बहुत से यज्ञ देखे जा सकते हैं। यद्यपि इस आधारयज्ञ के विस्तृत और व्यापी वर्णन की आवश्यकता है तो भी विस्तारभय से तथा इस विषय के अनुभवगम्य ही अधिक होनेके कारण यहां केवल इसका सामान्य रूपही छांदोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक १६ खंड से सुना देना ही पर्य्याप्त समझते हैं।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः-सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिनं सवनमनु-

सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सी-येत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥२॥ अथ यानि चतुश्चत्वा-रिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः। प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ ३ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवन-मष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुते माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुप-तपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतम-जीवत्स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ छां ३।१६

"मनुष्य जीवन निश्चय से यज्ञ है। उसके जो २४ वर्ष हैं वह प्रातःसवन हैं। २४ अक्षरों की गायत्री होती है और प्रातःसवन गायत्र है। इसमें (प्रातःसवन में) वसु देवता अनु गत हैं। प्राण ही वसु हैं क्योंकि वे इस सबको बसाते हैं। इसलिये इस आयु में मनुष्य को कोई रोगादि आकर क्लेशित करने लगे तो वह बोले 'हे वसु प्राणो! मेरा यह प्रातःसवन है इसे माध्यंदिन सवन तक लेते चलो। तुम प्राण वसुओं के बीच में (तुम्हारे उपस्थित होते हुवे) में यज्ञ को खण्डित

नहीं होने दूंगा। ' इस (ध्यान) से वह रोग उठ जाता है और मनुष्य नीरोग हो जाता है।

इससे अगले जो चवालीस वर्ष (अर्थात् २५ वर्ष की आयु से ६८ वर्ष की आयुतक) है वह माध्यंदिन सवन है। ४४ अक्षरोंका त्रिष्टुप् छंद होता है और माध्यंदिन त्रैष्टुभ है। इसमें रुद्र देवता अनुगत हैं, प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये रुलाते हैं। इस वायु में यदि कोई रोग आदि आकर क्लेशित करने लगे तो बोले ' हे रुद्र प्राणो, मेरा यह माध्यंदिन सवन है, तृतीयसवन तक इसे ले चलो, मैं तुम प्राणरुद्रों के बीच में (तुम्हारी उपस्थिति होते हुवे) यज्ञ को खण्डित नहीं कर सकता ' इस (ध्यान) से वह रोग आदि उठ जाता है और मनुष्य नीरोग होजाता है।

" अब जो (शेष) अडतालीस वर्ष (अर्थात् ६८ से ११६ वर्ष तक) हैं वह तृतीय सवन है। ४८ अक्षरों का जगती छन्द होता है और तृतीय सवन जागत है। इस में आदित्य देवता अनुगत हैं, प्राणही आदित्य हैं, क्योंकि वे सब का आदान करते हैं, इस आयु में यदि कोई रोगादि आकर क्लेशित करने लगे तो बोले ' हे आदित्य प्राणो ! यह मेरा तृतीय सवन है, इसे पूरी आयु यज्ञसमाप्ति तक ले चलो, मैं तुम आदित्य प्राणों के बीच में (तुम्हारे उपस्थित होते हुवे) यज्ञ को खण्डित नहीं होने दूंगा ' इस (ध्यान) से वह रोगादि से उठ जाता है और मनुष्य नीरोग हो जाता है।

" यह बात इस विद्या के विद्वान् ऐतरेय महीदास ऋषिने कही थी। (वह कहता रहा 'हे रोग! तू मुझे क्या क्लेशित करता है जो कि मैं (बीच में) मरने वाला नहीं हूं, इस प्रकार वह

११६ वर्ष जीता रहा और भी जो कोई इस बात को समझता है वह ११६ वर्ष तक जीता है"।

उपनिषद् के इस उपदेश का हमें खूब मनन करना चाहिये। इससे कितना गूढ़ रहस्य है उसकी सुन्दरता तो अभ्यासी ही जानेगा। परन्तु एक वाक्य में इसका अर्थ यह है कि मनुष्य-जीवन को यज्ञ समझना चाहिये। यज्ञ को तरह इस के भी तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग में जो भिन्नभिन्न तीन प्रकार के देवता प्राण में रहते हैं उनके ध्यान द्वारा अपनी प्रवल इच्छाशक्ति से इस यज्ञ को कभी भी भंग नहीं होने देना चाहिये, बल्कि नियमपूर्वक ११६ वर्षमें इसे निर्विघ्न समाप्त करना चाहिये।

पहली बात है कि मनुष्य "यज्ञ" है। भारत के वे प्राचीन मही-दास आदि ऋषि मनुष्य जोवन को ११६ वर्ष तक चलने वाला यज्ञ समझते थे। यज्ञ का भंग होना पाप है। यज्ञका नाश करने-वाले असुर होते हैं और यज्ञकी रक्षा करने वाले देवता। अव कौन भारतवासी अपने जीवनको यज्ञ समझता है, इसकी रक्षा की चिन्ता करता है, वीच में मर जानेको यज्ञनाश का अनर्थ समझने वाले अब कौन हैं? हमसे अधिक तो इस यज्ञ की रक्षा करने वाले विदेशी लोग हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका का हाल सुनिये, सन् १८०० में वह मनुष्यों की औसत आयु ३३ वर्ष थी, १८५५ में उन्होंने अपनी आयु बढ़ा कर ४० वर्ष की कर ली। एवं १९१० में उनकी औसत आयु ५४ हुई और अब १९२० में यह ५८ हो गयी है। यज्ञ की रक्षा की चिन्ता तो उन्हें है, हम लोगों की आयु सौ से घट कर २२॥ रह गयी है!!! (शायद अब और भी घट चुकी है) पर हमें कुछ खबर भी नहीं है हमारे देशमें इन करोडों ईश्वरीय यज्ञों का प्रातःसवन में ही भंग कर दिया जाता है, तब हमारा उद्धार कैसे हो? पर हम तो यज्ञ

वज्ञ सब भूल चुके हैं, हमारी अब की धर्म (!) की शिक्षा के अनुसार हम समझते हैं कि जल्दी मर गये तो झगडा कटा। पर हम अधर्मियों को कोई यह समझा दे कि यह जीवन तो भगवान की दी हुई पवित्र वस्तु है, हम पापी इसका झगडा काटने वाले कौन होते हैं। यह तो हमें इस लिये दिया गया है कि परमात्मा के संसार महायज्ञ में इसके अंगभूत इस यज्ञ को अच्छी तरह चलावें और पूर्ण करें और इस यज्ञ को अच्छी तरह चलाते हुवे या तो इस यज्ञ से यज्ञ का यजन कर डालना है अर्थात् आत्मवलिदान करना है (जैसे कि देश या धर्म के लिये वीर पुरुष करते हैं) या इसे पूर्ण कर परमात्मार्पण करना है, इस लिये यह यज्ञ है। परन्तु इसके विपरीत इसे अच्छी तरह न चलाना, इस में रोगादि आने देना एवं इसका भंग करना पाप है, निर्बलता वश इसे एकदम नाश कर डालना अर्थात् आत्महत्या और भी घोर पाप है, वेद में तो रोग और पाप एक ही बात है, रंहः, रपः, कण्वः आदि सब पापवाचक शब्द रोगवाचक हैं फिर भी न जाने वेदों को मानने वालों को रोग में पाप क्यों नहीं दिखलाई देता है ? रोग केवल इसी लिये पाप नहीं हैं क्यों कि पाप के कारण ये उत्पन्न होते हैं, पर हमें सामाजिक दृष्टि से भी रोग की पापमयता देखनी चाहिये, रोगी पुरुष समाजमें रोग का वायुमण्डल पैदा करता है, दूसरों में रोग फैलाने का कारण होता है, समाजमे जीवन की उपयोगिता, जीवन का आनन्द, जीवन की वढनेवाली कार्यक्षमता इन सब को रोगी होना धक्का पहुंचाता है, फिर समाज को अपनी शक्ति रोगी के रोग दूर करने उसको सेवा करने में व्यय करनी पडती है, अच्छा हो जाने पर भी जो रोग की निर्बलता उसमें स्थिर हो जाती है वह समाज को हानि पहुंचाती है, यह सब समझकर हमें अपने यज्ञ को रोगों के आक्रमणों से

सदा बचाये रखना चाहिये और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कर्म (पाप) कभी न करना चाहिये, म० हैनसेन (Hansen) के अनुसार उपर्युक्त अमेरिकाकी आयुवृद्धि भी रोगों के रोकने के द्वारा ही प्राप्त की गई है।

मृत्युसंख्या को देखें तो वहां भी अमेरिका ने १९११ से अब १९२४ तक के बीच में मृत्युसंख्या को प्रति सहस्र १७ से ११.६ तक घटाया है, जब कि भारत में मृत्युसंख्या (जहां तक मुझे स्मरण है) लग भग ३० प्रति सहस्र है और उनमें भी बालकों की मृत्युसंख्या तो हृदयविदारक है यह है लग भग ३०० प्रतिसहस्र, फिर वही कहना पडता है कि जिस देशमें इतने ईश्वरीय यज्ञों का प्रारंभ में ही भंग हो जाता है वहां असुरों की सदा जय है, वहां देव कैसे बसें, उनका उद्धार कैसे हो?

इस लिये इस देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवनयज्ञ को अच्छी तरह चलाने में प्रवृत्त होना चाहिये। इसे ठीक तरह चलाने के नियम भी इसी उपनिषद् के वचन में आगये हैं। वे संक्षेप से इस प्रकार हैं, जो कोई करेगा इन्हे विस्तार से भी जान लेगा, प्राण ही जीवन है, इस लिये प्राणों को ही लगातार ११६ वर्षतक ठीक रखना है, इसके लिये प्रत्येक सवनमें भिन्न भिन्न देवों को प्राणमें लाना चाहिये। वसु, रुद्र, आदित्य में सब देव आ जाते हैं। इस यज्ञ की ये वसु आदि प्राणस्थ देवता रक्षा करते हैं और रोग आदि असुर उनमें विघ्न डालते हैं। उपनिषद् में कहे संकल्प के द्वारा और तदनुसार आचरण करते रहने से इन देवों की विजय होती रहती है और असुर विघ्न नहीं डाल सकते। एवं यह यज्ञनिर्विघ्न चलता हुवा पूर्ण होता है। प्रारम्भ के २४ वर्ष वृद्धि के हैं, इस समय में अपने में सब बातें बताई जाती हैं, इस लिये इस

समय प्राणों में वसुओं का ध्यान करते हुवे अपना भोजन, व्यायाम, व्यवहार, विचार आदि सब ऐसा ही करना चाहिये जिससे कि हमारे शरीर में वृद्धि होती जाय, सब आवश्यक वस्तुओं का इस में वास हो जाय। फिर २५ से ६८ वर्ष तक आयु जवानी को आयु है, आज कल हमारी जवानी बेशक २५ वर्ष में ही समाप्त हो जाती है। पर "साठा सो पाठा" की कहावत के अनुसार पहिले लोग ६० वर्ष की उमर तक पहिलवान हुवा करते थे और अब भी होने चाहिये। अस्तु। इस आयु में मनुष्य ने खूब कार्य करना है, प्रतःसवन में यदि युद्ध की तैयारी है तो इस समय में असल में युद्ध करना है, इस लिये इस समय में हमारे प्राण 'रुद्र' बनने चाहियें, इस समय का हमारा भोजन, व्यायाम, विचार, व्यवहार सब ऐसे होने चाहिये जो रुद्र गुणों के पोषक हैं तो रुद्र देव सब रोगादि असुरों को भगाते हुवे यज्ञ को तृतीय सवन तक निर्विघ्न पहुंचाते हैं। फिर ६९ से ११६ वर्ष तक बुढ़ापे का समय है। इस समय प्राण आदित्यरूप होकर सब काम समेटने लगते हैं, इस समय में यद्यपि मनुष्य में तेज प्रकाश तो बढ़ जाता है. पार्थिवपन नहीं रहता, शरीर सूक्ष्म हो जाता है, इस लिये इस समय के आहार विचार आदि भी तदनुकूल होने चाहियें, इस से मनुष्य अपने परिपूर्ण जीवन वय को समाप्त कर परमात्मार्पण होता है।

इस में भी पाठकों ने देखा कि मनुष्यजीवन के यज्ञ में भी हम भारतवासी सबसे पीछे हैं।

४५ हमारा उद्धार कौन करेगा?

अन्त में भारत देश का यज्ञ द्वारा उद्धार करने में निम्न वेद मंत्रों का विनियोग करनेकी मेरी धृष्टता को क्षमा

करते हुवे आशा है पाठक मेरे साथ निम्न प्रार्थना में सम्मिलित होंगे ।

हे यज्ञ भूमि ! क्या अब तेरा फिर उद्धार होगा या नहीं। यह हमारी यज्ञ भूमि भारत भूमि—

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥
यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

अथ०-१२-१-३८, ३८

"जिस भूमिपर सभास्थान और हविस्थान होते थे, जहां यज्ञस्तम्भ गाडा जाता था, जहां कि ब्रह्मा और अध्वर्यु आदि लोग ऋचाओं और सामों से अर्चन करते थे, जहां इन्द्र को सोम पिलाने के लिये नित्य यज्ञशील लोग संगठित होते थे"। "जहां कि भूत को बनाने वाले पूर्व ऋषि सत्र यज्ञों द्वारा सातों गौओंकी पूजा करते हैं और विधाता (ऋषिलोग) तपसहित यज्ञसे (देव) पूजन करते रहे।"

वह हमारी मातृभूमि अब भी फिर यज्ञभूमि बनेगी। इस के ये सैंकडों भेदभाव और फूट कब कैसे दूर होंगे ? यहां के लोगों को कौन परस्पर मिलायगा ?

को अस्य नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥१॥

अथ० ७-१०३-१

"हमें इस पापमयी द्रोह की अवस्था से कौन उद्धार करेगा ? ऐसा कौन क्षत्रिय श्रेष्ठ धन की इच्छा करने वाला है ? यज्ञ की

आज किसे फिकर है, फिर शुरू किये हुवे भी यज्ञ को अवश्य पूरा करने की किसी की इच्छा है ? कौन आज देवों में दीर्घ आयु को याचना करता है ?"

परन्तु कोई कहता है "ऐसे निराश होने की बात नहीं है। यज्ञ का जगत् में सर्वथा नाश नहीं हो सकता, जब तक कि जगत् में "क" देव, यज्ञ प्रजापति का शासन है। यज्ञप्रजापति 'क' देव सदा सहायक होंगे यदि हम यज्ञप्राप्ति के लिये अपना यथाशक्ति यत्न करते रहेंगे।" वेही यज्ञ प्रजापति हमारे लिये श्रेष्ठधनों की इच्छा करने वाले और हमें क्षतों से त्राण करने वाले हैं। वे हमें हमारी इस पापमयी द्रोह अवस्थासे उठायंगे उन्हें यज्ञों की इच्छा है और सब प्रारंभ हुवे यज्ञों की पूर्त्ति की इच्छा है। वे ही 'क' देव हमारी देवों में दीर्घ आयु चाहते हैं।

इस लिये आओ, हम ऐसे बनें कि हमारे देशमें यज्ञ प्रजापति की जय हो।

(परिशिष्ट)

(१) प्रश्न।

निबन्धमें यज्ञ को परोपकारार्थ बतलाया गया है, किन्तु वास्तव में यज्ञ स्वार्थ को पूरा करने के लिये ही होते हैं। 'स्वार्थ' शब्द बुरे अर्थमें यूं ही प्रयुक्त होने लगा है।

उत्तर।

यह बात ठीक है। वास्तव में सच्चा स्वार्थ और सच्चा परोपकार एक ही बात है। इस शाब्दिक उलझन को हटाने के लिये ही हमने निबन्ध में 'स्वार्थ में परार्थ और परार्थ में स्वार्थ'

इस नामसे एक पृथक् प्रकरण ही लिख दिया है। इसे पूरा समझने के लिये वह प्रकरण फिर पढ लेना चाहिये।

संक्षेपमें यों कहा जा सकता हैकि क्योंकि मनुष्यका और उनके प्रत्येक (अपूर्ण) यज्ञका परोपकारमें ही सच्चा स्वार्थ हैअतः 'यज्ञ-परोपकारार्थ होना चाहिये' इसका यही अभिप्राय है कि हमारे सब यज्ञ पूर्ण ईश्वरीय यज्ञके या प्रत्येक इससे ऊपरके यज्ञके 'उपकारार्थ' होने चाहिये, विरोधी नहीं। इसी में हमारा सच्चा स्वार्थ है।

स्वार्थ कमीका द्योतक है। जो पूर्ण है उसका अपना कुछ स्वार्थ नहीं रहता। अतः पूर्ण परमात्मा का पूर्ण यज्ञ किसी स्वार्थ के लिये नहीं कहा जा सकता। हमारे अपूर्ण यज्ञ वेशक स्वार्थ(सच्चे स्वार्थ) के लिये होते हैं जो कि सच्चा स्वार्थ परोपकारार्थ होनेसे ही सिद्ध होता है। अतः परोपकार को ही यज्ञका लक्ष्य कहना चाहिये, यद्यपि मनुष्यों के अपूर्ण यज्ञों के संबंधमें इस परोपकार शब्दकी जगह ' सच्चा स्वार्थ ' शब्द भी रखा जा सकता है।

सच्चे स्वार्थसे उलट जो झूठा स्वार्थ या त्याज्य स्वार्थ है जो यज्ञ के स्वार्थ से भिन्न है या विरोधी है। क्यों कि साधारणतया ' स्वार्थ ' इसी बुरे अर्थमें प्रयुक्त होता है इस लिये कहा जाता है, कि यज्ञमें स्वार्थ नहीं चाहिये।

(२) प्रश्न ।

क्या परमात्माभी बलिदान करता है ? पशुबलिदानप्रकरणमें कुछ ऐसा ही कहा गया है।

उत्तर ।

परमात्मा को दार्शनिकोंने ' अकर्ता ' भी कहा है। उस असंगरूप में वेशक परमात्मा भी कुछ नहीं करते हैं। परन्तु संसार महायज्ञके कर्त्ता परमात्मा अवश्य आत्मबलिदान करते

हैं, इसके विना यज्ञ नहीं चल सकता। संसारमहायज्ञ में जो नित्य अनगिनत प्राणी मरते हैं, वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं यह सब संसारयज्ञमें बलिदान - क्रिया हो रही है। इसका वर्णन अथर्व वेदके ९।८ सूक्तमें अच्छी तरह हुआ प्रतीत होता है। संसार में जब जिस वस्तु या जिस प्राणीकी आयु समाप्त हो जाती है, उसकी संसारमें आवश्यकता नहीं रहती (या यूं कहना चाहिये कि उसका रहना हानिकारक होता है।) वह उसी क्षण समाप्त हो जाती है। यह ईश्वरके संसाररूपी विराट् शरीर में होनेवाला बलिदान है। यह ईश्वरका अपनेसंसार यज्ञ में आत्मबलिदान है।

(३) प्रश्न।

इस निबन्ध में 'यज्ञ' एक सांसारिक वस्तु बतायी गयी है या यज्ञ के इसी रूप को दर्शाना आवश्यक समझा गया है। क्या निबन्धकर्ता स्पष्ट करेंगे कि यज्ञ वस्तुतः सांसारिक वस्तु है या आध्यात्मिक, या पारलौकिक?

उत्तर।

'यज्ञका अर्थ है वह संगठित शरीर जिस का कि प्रत्येक अंग एक दूसरेके साथ ठीक सम्बन्ध जुड़ा हो, An organized body in which every member is connected in right relation with each other) फिर साधारणतया प्रत्येक ठीक सम्बन्ध रखना (Right relation) ही यज्ञ कहलाता है (मैंने इसे यज्ञांग या वैयक्तिक यज्ञ कहा है) इस लिये यज्ञ सांसारिक भी है और पारलौकिक भी है। मनुष्यने अपनी अवस्थासे यज्ञ द्वारा उठते हुए ही पुरुषार्थ सिद्ध करना

है। प्रत्येक दूसरी वस्तु से ठीक सम्बन्ध (Right Relation) स्थापित करते हुए ही उठना है। वह सांसारिक वस्तुओंसे ठीक सम्बन्ध रखेगा तो उसे सांसारिक सुख मिलेंगे। आध्यात्मिक वस्तुओंसे ठीक संबंध रखेगा तो उसे उनका सुख मिलेगा। अतः हमने प्रकरणमें उद्धृत गीतावाक्यके शब्दोंमें कहा है, कि विना यज्ञ के इह लोक और परलोक दोनों विगडते हैं। अतः यज्ञ सर्वत्र है। सांसारिक भी है आध्यात्मिक भी। हम संसारी लोगों को पहिले सांसारिक यज्ञ ही करने हैं। अतः इस निवन्ध में इन्ही रूपोंपर वल दिया है। वर्तमान भारतको अभी इसीकी आवश्यकता है।

(४) प्रश्न।

वलिदानको यज्ञका प्राण वतलाया गया है। वलिदान अच्छीसे अच्छी वस्तु का करना चाहिये। जितनी अच्छी वस्तुका वलिदान होगा उतनाही भारी पुण्य होगा और यज्ञ उतना ही वढेगा। तो राष्ट्रयज्ञकी वृद्धिके लिये झूठ वोलना अर्थात् सत्य जैसी सर्वोत्तम वस्तु का वलिदान करना उचित है? अपने देशके लिये अपनी आचार या नीति(Morality)का वलिदान कर चोरी करनी, डाका डालना आदि कर्म उच्च प्रकारका वलिदान हैं या नहीं? उदाहरणार्थ गत रूसजापानयुद्धमें जापानने रूस में वेश्यायें भेजी थीं कि वे रूसके वडे वडे राज्याधिकारिओं को ललचा कर जापान के अनुकूल रखें तो क्या वह जापान वेश्याओंका स्वदेश के लिये अपने चरित्रका भी वलिदान देना उचित था?

उत्तर।

यह एक वडा भारी भ्रम है कि अपनी अच्छी से अच्छी वस्तु को त्याग देना चाहिये या नाश कर देना चाहिये और यही अच्छेसे अच्छे वलिदान हैं। हमें इसका ठीक अर्थ

समझना चाहिये। इस निबन्ध में (देखो ३४ वें प्रकरण का प्रारंभ) बतलाया गया है, कि नाश तीन प्रकारसे हो सकता है, (१) हिंसा-किसी दूसरे का नाश। (२) आत्मघात-अपने आपका ही नाश कर देना। (३) आत्मबलिदान-अपनी उस प्रियसे प्रिय वस्तुको भी त्याग देना जो कि हमारे यज्ञके आगे बढनेमें बाधक हो रही हो। पहिले दो कार्य अर्थात् हिंसा और आत्मघात दोनों पाप हैं। यज्ञ में ये दोनों कार्य नहीं होते हैं। किन्तु तीसरा अर्थात् आत्मबलिदान बडा भारी पुण्य है और यज्ञ में प्राण की तरह आवश्यक है। हिंसा अर्थात् दूसरे का नाश करना तो स्पष्ट एक पृथक् वस्तु है, किन्तु आत्मघात और आत्मबलिदान का अर्थ हमें साफ विवेकपूर्वक समझ लेना चाहिये, क्यों कि इनके समझने में बहुतों को भ्रम होता है। आत्मघात-द्वारा अपने आपको (यज्ञांग को, क्यों कि यज्ञकर्ता यज्ञ का अंग है) नाश करने से तो यज्ञ को हानि पहुंचती है, परन्तु आत्मबलिदान द्वारा अपनी बुराइओं को (जो कि यज्ञ में बाधक होती हैं) त्यागने से यज्ञ की वृद्धि होती है। हमारी (यज्ञाङ्ग) शुद्धिसे यज्ञ की शुद्धि होती है। आत्मघात तो अपने सच्चे स्वार्थ (यज्ञके स्वार्थ) का नाश करता है और इस यज्ञके स्वार्थ के अतिरिक्त और विरोधी जो स्वार्थ मनुष्योंमें पैदा हो जाते हैं उन झूठे स्वार्थों का त्याग करना आत्मबलिदान है। यज्ञके स्व+अर्थ (अपने अर्थ) की पोषक जितनी बातें होती हैं वे मिलकर यज्ञकी 'आत्मा' हैं, इस आत्मा की तो सब यत्न से रक्षा करनी चाहिये, इसका घात नहीं करना चाहिये, किन्तु इसमें भी बाधक वस्तुओंका बलिदान कर देना चाहिये यह आत्मपुष्टि है। इस आत्मघात और आत्मबलिदान का भेद है। यह ठीक है कि कईवार यह निर्णय करना

कठिन हो जाता है कि इस समय इस वस्तु का त्याग आत्मघात है या आत्मबलिदान। ऐसे समयपर जब कि शरीर को त्यागना नहीं चाहिये, शरीर द्वारा सेवा करनी चाहिये, जोशमें आकर मर जाना आत्मघात ही है, यद्यपि ऊपर से बलिदान प्रतीत होता है। इसी प्रकार जहां कि यज्ञमें धन को व्यय नहीं करना चाहिये, वहां धनव्यय कर देना आत्मघात है, (धन द्वारा) आत्मबलिदान नहीं। एवं बहुत स्थलों पर आत्मघात और आत्मबलिदान का निर्णय करना सचमुच बहुत कठिन होता है। परन्तु अपने सदाचार का नाश तो सदा ही आत्मघात है, स्पष्ट 'आत्मा' का नाश करना है और अतएव यज्ञका नाश करना है। क्यों कि ऋत (सत्य नियम Moral Laws) का भंग कर अनृत कर्म करना वास्तवमें 'आत्मा' को मारना है। आत्मा अमर कहाती है, यह शरीरके मरनेसे भी नहीं मरती है। किन्तु संसारमें आत्मा यदि किसी तरह मरती है तो वह संसार-व्यापी सत्यनियमों के भंग से ही मरती है, क्योंकि इससे वह संसारव्यापी परम आत्माके विरुद्ध हो जाती है। इसी लिये इन संसारव्यापी महान् नियमोंके भंग करनेसे किसी भी यज्ञ का उपकार नहीं हो सकता। जापान को वेश्या भेजने के कर्म से कुछ क्षणिक लाभ होता हुआ दिखायी दिया हो या न दिया हो किंतु इस कर्म से उसे (उसके राष्ट्रयज्ञ को) हानि तो निःसन्देह हुई होगी। क्यों कि एक आचारहीन पुरुष यज्ञमें 'नहीं' के बराबर है, बल्कि 'ऋण' (—) तुल्य है। जिस यज्ञके अंग आचारहीन पुरुष होंगे वह यज्ञ उनके कारण असफल ही होगा। वह यज्ञ जिस हदतक ऐसे लोगों से बना होगा उस हदतक वह आत्मघात सिद्ध होगा। ऐसी

शंका करनेवाले लोग यह बात भूल जाते हैं कि जो लोग देशके लिए झूठ बोलनेको, चोरी करनेको उद्यत होते हैं वे वस्तुतः सत्य और अस्तेयके असली महत्व को न जाननेके कारण ही उनका बलिदान करनेको उद्यत हो जाते हैं। वे अपनी समझमें देशके लिये देश से एक हीन वस्तुका बलिदान करते हैं। जो मनुष्य सत्य और अहिंसा आदि विश्वनियमों (Universal laws) की असली कीमत जानता है वह सत्य के लिये देशकार्य को ही बलिदान कर देगा, सत्यको कभी नहीं। यह तो सभी मानेंगे कि जिस वस्तु (यज्ञ) के लिये बलिदान किया जाता है उसकी अपेक्षा तो बलिदान की-जानेवाली वस्तु छोटी ही होगी। तो छोटी वस्तु के लिये उससे भी कीमती वस्तु ('अच्छीसे अच्छी वस्तु') का त्याग करना बलिदान नहीं किन्तु नाश (आत्मघात) है। हमने 'यज्ञसे यज्ञका यजन' नामक प्रकरण में बतलाया है कि बडे यज्ञके लिये छोटे यज्ञका ही त्याग बलिदान है - बडा भारी 'आत्मबलिदान' है। पर यहां आचारनाश करना तो छोटे यज्ञके लिये बडे यज्ञका नाश है — राष्ट्रयज्ञ के लिये संसारव्यापक ब्रह्म यज्ञ का नाश करना है। अहिंसादि व्रत तो इस देश या इस संसारके ही नहीं, किन्तु सब विश्वके यज्ञतंतु हैं। हां, ऊपर जाकर ऐसी भी एक अवस्था आती है जब कि पुण्य और पाप दोनों एक समान हो जाते हैं, किन्तु यह अवस्था तब आती है जब कि मनुष्य मनोमय कोशके भी ऊपर विज्ञानमय, आनन्दमय कोशमें पहुंच जाता है। जब उसका अपना जुदा मन नहीं रहता है तब वह पापपुण्य से अस्पृष्ट हो जाता है। पर उस अवस्थामें पहुंची न तो वे रूस गयी हुई वेश्यायें थी और न हम साधारण आदमिओं में भी कोई ऐसा है। पुण्यका भी बलिदान करनेवाला तो वही

कहला सकता है जो कि उपर्युक्त प्रकारसे बुद्धितत्त्वमें पहुंच गया हो, हममें से कोई नहीं। यह ऐसी ही बात है जैसे कि वैश्यके लिये तो धनसंग्रह करना धर्म है, परन्तु धनसे ऊपर हो जानेके कारण ब्राह्मण के लिये वही धन जैसी आवश्यक वस्तु निरर्थक और त्याज्य हो जाती है। इस लिये जब तक कि हम मनोमय कोशको नहीं जीत लेते तब तक तो पुण्यकर्म, सदाचार के नियम हमारी 'आत्मा' हैं और इनका त्यागना अपना और अपने यज्ञ का घात है।

(५)प्रश्न--

निबन्धमें वर्णित यह ' वाद ' तो बडा सुन्दर लगता है कि अन्दर के काम क्रोधकर्म आदि पशु ही बाहर के साकार पशु होते हैं, परन्तु यज्ञों में जिन गौ, अश्व आदि पशुओं के काटने की बात आती है, वे पशु तो बडे अच्छे अच्छे हैं। ऐसा कौनसा दुर्भाव रूपी पशु है जो कि गौ या अश्व बनता है? इसके विपरीत जो वास्तवमें गंदे पशु हैं जैसे उल्लू, गदहा, कुत्ता, सूअर आदि (जो कि दुर्भावों के परिणाम स्पष्ट दीखते हैं) उनके यज्ञ में बलिदान की बात कहीं नहीं सुनी जाती।

उत्तर--

यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है। मैंने तो विचार मेरे मनमें आया था उसे एक वाद (Theory) के रूपमें रख दिया है। इस वाद पर की गयी इस शंका का समाधान मैं तब तक नहीं कर सकता जब तक कि मैं उन स्थलों का विशेष अध्ययन न कर लूं जहां कि पशुओंके काटनेका वर्णन है तथा यज्ञमें वध्य कौन कौन पशु समझे गये हैं उन का पूरा पता न लगा लूं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ये गौ, अश्व, अज आदि भी आखिर पशु तो हैं ही और इन की दशा हमारी अपेक्षा बहुत दयनीय है।

इतना और विचार दौडता है कि शायद इन अच्छे अच्छे (उच्च पशुओं) के वलिदान का वर्णन इस लिये है क्यों कि उच्च 'वार्तो का वलिदान करना कठिन होता है । जैसे कि ' क्रोध त्याज्य है' इस की अपेक्षा यह समझना और करना कठिन है कि ' यश की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये ' या ' सुखकीभी स्पृहा त्याज्य है । फिर भी यह मेरा वाद अभी वहुत विचारणीय है ।

(६) प्रश्न–

इस समय में पुराने यज्ञों का उद्धार करना व्यर्थ है । यह कर्मकाण्ड जिससे कि उस समय बुद्ध भगवान् ही तंग आगये थे यदि फिर उद्धार किया जायगा तो हानि ही होगी ।

उत्तर--

मैंने वतलाया है कि यज्ञों की विधिमें, काण्डमें वर्तमान कालानुसार परिवर्तन कर लेने चाहिये । निर्जीव कर्मकाण्ड का मैंनेभी विरोध किया है किन्तु जैसे कि आत्मा के लिये शरीर चाहिये वैसे कुछ न कुछ कर्मकाण्डविधि आवश्यक है ।

मैंने विशेषतया सूक्ष्म यज्ञोंके उद्धार की वात कही है अर्थात् वे यज्ञ जो जो कि पहिले वडे वडे अद्भुत फलदायक होते थे जैसे कि ब्रह्मयज्ञमें योग की सिद्धियें तथा पुत्रोत्पत्ति, वर्षा लाने, आदि के देव यज्ञ । इन प्राचीन यज्ञों का उद्धार तो (नये परिवर्तन सहित) आवश्यक है । पंचमहायज्ञोंका भी उद्धार होना चाहिये । सभी का उद्धार (चाहे नये रूपसे) । होना चाहिये ।

संज्ञपन और अवदान।

(ले०-श्री० पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, 'आर्य सेवक')

आलम्भन, संज्ञपन और अवदान इन तीन शब्दों ने मीमांसा के साहित्य में जितना अनर्थ मचाया है उतना कदाचित् ही किन्हीं अन्य शब्दों ने मचाया हो। इन्हीं शब्दों के कारण श्रौत यज्ञों की यज्ञशाला यज्ञशाला नहीं प्रतीत होती, किन्तु एक अच्छा खासा सैनिकागार दीख पड़ती है। समय समय पर भवभूति कालिदासादि कवि " मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इति " " पशुमारणकर्म्मदारुणोऽप्यनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।" आदि शब्दों में इस बात पर दबी चोट भी करते रहते हैं। चार्वाक तो बिल्कुल स्पष्ट ही बोल उठाः—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते॥

पर यदि गम्भीर दृष्टि से देखें तो बहुत अंशों तक इस नृशंस काण्ड का आधार इन्हीं तीन शब्दों पर है। आज हमारा विचार इन में से 'संज्ञपन' और 'अवदान' पर कुछ प्रकाश डालने का है।

पहिले संज्ञपन को लीजिये। यह शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बनता है। 'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते' आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि संपूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्यग्ज्ञान आदि हैं, कहीं भी हिंसा नहीं। फिर पता नहीं चलता कि णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययों

ने इस में क्या वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जो इस का अर्थ एकदम हिंसा हो गया ? अस्तु । देखना चाहिए कि वेद तथा वैदिक साहित्य में णिच् तथा ल्युट प्रत्ययान्त प्रयोग भी किस अर्थ में आया है ।

विचित्र बात है कि प्रयोग भी मीमांसकों के पक्ष को समर्थन नहीं करता । लीजिये, चारों वेदों में संज्ञपन शब्द णिजन्त तथा ल्युट् प्रत्ययान्त रूप में केवल एक स्थान पर अथर्व वेद में आया है । मन्त्र यों हैं:—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता
सं वोऽयम्ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ।

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान् संमनसस्कृधीह ॥

अथर्व ६ काण्ड ७४ सू० १–३ मन्त्र

इस प्रकरण में "संपृच्यन्तां" "समजीगमत्" "संबभुवुः" "संमनसस्कृधि" यह संगठन की सुहावनी प्रबल साहचर्य के बल से संज्ञपन के अर्थ पर क्या प्रकाश डाल रही है इसे सहृदय लोग अनुभव करें । संस्कृतानभिज्ञ पाठकों के लिये हम केवल तीन मंत्रों का अनुवाद और देते हैं ।

विद्वान् उपदेश करता है:—

"तुम्हारे शरीर सम्पृक्त (आपस में खूब मिले हुए) हों । मन सम्पृक्त हों, व्रत सम्पृक्त हों । उस ब्रह्मणस्पति कल्याण स्वरूप प्रभु ने तुम्हें इकठ्ठा किया है । तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो । हृदयों में प्रेम हो । उस प्रभु के नाम पर

किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूं" फिर वही विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करता हैः-

"जिस प्रकार आदित्य (ब्रह्मचारी) वसुओं से, जिस प्रकार क्षत्रिय वैश्यों से निस्संकोच मिलते हैं उसी प्रकार हे भूर्भुवः स्वः अथवा अ उ म तीन नाम वाले प्रभो! आप इन सब मनुष्यों को एक मन कर दीजिये।" यह हुआ एक संज्ञपन।

अब शतपथ का भी उदाहरण लीजिये—

"अथातो मनसश्चैव वाचश्च। अहम्भद्र उदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्र ऊहाते। तद्ध मन उवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै त्वया त्वं किञ्चनानभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति।९। अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाह तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति॥"

शतपथ कां० १ अ० ४।

"अब मन वाणी के झगडे का हाल सुनो। एक बार मन और वाणी में "मैं बडा" "मैं बडी" हो पडी। सो मन बोला-मैं बडा। भला तू कौनसी बात बोलती है जो मैं नहीं, जानता। बस तू मेरा कहा करने वाली मेरी अनुचरी है मैं तुझ से बडा हूं। वाणी बोली बडी तो मैं ही हूँ। तुझे तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है पर वह ज्ञान किसी काम का। 'आप को कुछ ज्ञान है' यह ज्ञान लोगों को तो मेरे द्वारा ही होता है। जो आप को ज्ञान है वह मैं ही प्रकाशित करती हूं और हृदयङ्गम करती हूं।"

क्या यहां भी "संज्ञपयामि" के अर्थ के विषय में किसी को सन्देह हो सकता है?

अब जरा उन प्रकरणों को लीजिये जहाँ संज्ञपन का अर्थ काटना लिया जाता है। उदाहरणार्थ अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। प्रथम तो संज्ञपन का अर्थ हिंसा है ही नहीं; और यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से यह अर्थ स्वीकार भी कर लें तो भी कम से कम इतना तो हम ऊपर व्याकरण तथा प्रकरण के बल से निर्विवाद रूपेण सिद्ध कर ही चुके हैं कि संज्ञपन का अर्थ सम्यग्ज्ञान करना भी है। ऐसी अवस्था में यदि यह भी मान लें कि इस शब्द के हिंसा तथा सम्यक् ज्ञान करना दोनों अर्थ हैं तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरण सङ्गत होगा वही मानना पड़ेगा। अब अग्नीषोम में पशु संज्ञपन के पश्चात् 'वाचं ते शुन्धामि ... चरित्राँस्ते शुन्धामि' यजु० ६...... 'वाक्त आप्यायताम्' आदि जितने शब्द पड़े हैं सब सम्यग्ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं और हिंसार्थ के सर्व्वथा प्रतिकूल हैं। चरित्राँस्ते शुन्धामि (तेरे चरित्र सुधारता हूं) की संगति पशु प्रकृति मूढ़, बालकादि को सम्यग्ज्ञान कराने में ही हो सकती है न कि छाग वध में।

इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में वाक्य आता है—'एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति'। इस का अर्थ पौराणिक लोग करते हैं कि अश्वमेध में जिस स्थान पर अश्व का वध करते हैं उस स्थान का नाम स्वर्ग लोक है। क्यों न हो? वहीं उसी स्वर्ग लोक में कपड़ा तान कर फिर घोड़े और राजमहिषी का समागम कराया जाता है। इन लोगों को इस प्रकार वेद की हत्या करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता।

अब इस शब्द का दूसरा (हमारी सम्मति में एक मात्र) अर्थ लीजिये तो कितना सुसंगत है। 'वही स्थान स्वर्ग लोक

है जहां मूढ पशु भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है। अश्वमेध के लिये स्पष्ट ही कहा है 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः।' यही वाक्य उद्धृत करके यही अर्थ ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में ऋषि दयानन्द ने किया है। धन्य है उस वेदोद्धारक ऋषि को जिसने इन के अविद्याजाल को इस प्रकार छिन्न भिन्न कर दिया।

अब कहा जा सकता है कि विधि वाक्य के बलवान् होने के कारण 'शुन्धामि' यह मंत्र लिंग कुछ काम नहीं दे सकता। सो यह बात भी उपहसनीय है। क्योंकि यहां विधिवाक्य तथा मंत्र लिंग का विरोध नहीं किन्तु विधिवाक्य के अर्थ निर्णय में विवाद है। ऐसे समय में मंत्रलिंग के प्राबल्य को कोई पण्डित पुंग व दुर्बल कहने का अधिकार नहीं रखता। हां, यदि विधिवाक्य का अर्थ अन्यथा निर्णीत हो जाता तो मन्त्र लिंग अवश्य कुछ दुर्बल हो जाता। किन्तु इस समय तो वह वज्र की भांति प्रतिवादियों के दुर्ग को भूमिसात् कर रहा है। अब लीजिये अवदान को। यह शब्द 'डुदाञ् दाने' 'दो अवखण्डने' 'देञ् रक्षणे' आदि अनेक धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न भिन्न देवता निमित्तक हवि के लिये प्रयुक्त होता है। अब इसको वर्तमान मीमाँसक लोग 'दो अवखण्डने' से सिद्ध करते हैं। अर्थात् पशु के हृदय पाद नासिका जिह्वादि वह भाग जो भिन्न भिन्न देवताओं के लिये खण्डित करके (काटकर) रखे जाते हैं'। हविः के लिये बार बार शब्द भी आता है "अवद्यति" और यह निस्सन्देह "दो अवखण्डने" का रूप है क्योंकि इस में श्यन् विकरण पडा है जो दैवादिक "दो अवखण्डने" का निर्धारक है। किन्तु यह मीमांसक भद्र पुरुष इस वाक्य को न मालूम क्यों भूल जाते हैं? शतपथ ब्राह्मण ने इस समान रूपता मूलक भ्रम के निवारणार्थ ही लिखा है:-

"ऋणं ह वै जायते योऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः । स यदेव यजेत तेन देवेभ्य ऋणं जायते । तद्धयेभ्य एतत् करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥ २ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्धयेभ्य एतत् करोत्यृषीणान्निधिगोप इत्यनूचानमाहुः ॥ ३ ॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्धयेभ्य एतत् करोति यदेषां सन्तताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति । अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्धयेभ्य एतत् करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्व्वाणि करोति स कृतकर्म्मा तस्य सर्व्वमाप्तं सर्वं जितं । स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तद्-वदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्मा-द्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ।"

(शतपथ कां० १ अध्याय ७)

इस सन्दर्भ में " तदेनाँस्तदवदयते " यह भाग अत्यन्त ध्यान देने योग्य है । यह प्रयोग देङ् रक्षणे धातु का है, जिस से स्पष्ट है कि अवदान शब्द में दो अवखण्डने का भ्रम न हो । इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य स्पष्ट कह रहे हैं कि आहुतियों का नाम अवदान इस लिये है क्यों कि वह रक्षा करती हैं (ऋण के बन्धन से बचाती हैं) । फिर न मालूम मीमांसक लोग यहां दो अवखण्डने का प्रयोग क्यों बताते रहे?

अब तो केवल इतना कर्त्तव्य शेष है कि इस सन्दर्भ का अनु-वाद कर दिया जाय । सो यों है —

" पुरुष जन्म लेते ही ऋणी पैदा होता है। वह जन्म लेते ही चार का ऋणी होता है देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का। सो मनुष्य जो यज्ञ करता है सो देवताओं से ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है जो आहुति देता है सो उन के निमित्त। जो दूसरों को पढाता है सो ऋषियों का ऋणी होता है सो उन के निमित्त पढाता है। इसी लिये अध्यापक को ऋषियों का निधि रक्षक कहते हैं। और जो सन्तान की इच्छा करे, सो पितरों का ऋणी होता है जो उन के निमित्त करता है जिस से उन की सन्तान - परम्परा टूटने नहीं पाती। जो घर में अतिथियों को बसाता है सो मनुष्य मात्र का ऋणी होता है सो यह उन के निमित्त करता है जो उन को घर में विश्राम देता है उन्हें भोजन कराता है। सो जो यह सब कर्म करता हो वही कृतकर्म्मा है। उसने सब कुछ पा लिया, सब कुछ जीत लिया सो क्योंकि देवों का ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है वह यज्ञ (सङ्गठन) और आहुति उस की रक्षा करते हैं। इस लिये इस रक्षा करने के कारण जो कुछ आहुतियें अग्नि में की जाती हैं उन सब का नाम अवदान है। "

नहीं मालूम कि इस से अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या उपस्थित किया जा सकता है?



यज्ञ में पशुहिंसा तथा उसका इतिहास ।

अब इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता है कि यज्ञ में पशुवध करना चाहिये या नहीं तथा यज्ञ में पशुहिंसा कब से चली और क्यों ? यज्ञ का पर्य्यायवाची शब्द एक अध्वर भी है जो प्रायः वेद में प्रयुक्त किया गया है, ध्वर हिंसा का नाम है परन्तु जिस कर्म में हिंसा का सम्पर्क न हो उसे अध्वर कहेंगे, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अध्वर, अथवा यज्ञमें हिंसा नहीं होनी चाहिये । महाभारतके शान्तिपर्व के २६४ अध्यायमें एक श्लोक आता है:—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥

अर्थात् उच्छृङ्खल, मर्यादाशून्य, नास्तिक, मूढ तथा संशयात्मिक लोगों ने यज्ञ में हिंसा का विधान वर्णित किया है, वस्तुतः यज्ञ में हिंसा नहीं करनी चाहिये । अस्तु ।

तथापि हमारे बहुत से भाई यह शङ्का किया करते हैं कि यदि यज्ञ में हिंसा का विधान नहीं तो " अग्निषोमीयं पशुमालभेत " इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में यज्ञ में पशु का आलम्भन अर्थात् मारना क्यों लिखा है तथा अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञ अति प्राचीन काल से प्रचलित चले आ रहे हैं उन की कैसे सङ्गति होगी, उन भाईयों की शङ्का की निवृत्ति करने के लिये, हमें इन दो शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिये । (१) आलम्भन (२) पशु । इन दोनों शब्दों के अर्थों के निर्धारित हो जाने पर इस आशंका का उत्तर स्वयमेव मिल जाता है । उनमें से पहले हम आलम्भन शब्द को ही लेते हैं ।

इस बात में सन्देह नहीं कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों की व्याख्या हैं, वेदों में यज्ञों के अनुष्ठान का विधान किया गया है अतएव ब्राह्मण ग्रन्थ भी उन उन यज्ञों के करने की विधि को बतलाते हैं, परन्तु इस बात को भी अपनी दृष्टि से हटा नहीं देना चाहिये कि समय के भेद से प्रयुक्त भाषा के शब्दार्थों में भी भेद आ जाता है, उदाहरण के लिये हम निरुक्तकार यास्काचार्य के समय का एक शब्द "उपेक्षितव्यं" ही ले लेते हैं, वर्तमान समय में 'उपेक्षितव्यं' कहने से उपेक्षा की दृष्टि से देखने अथवा किसी वस्तु की ओर ध्यान न देने का बोध होता है, परन्तु यास्काचार्यके समय इस शब्द का यह अर्थ न था जो आप वर्तमान समय में कर रहे हैं, यास्काचार्य के समय इस शब्द का अर्थ वर्तमानार्थ से सर्वथा विरुद्ध "उप समीपं गत्वा ईक्षणीयं विचारणीयम्" अर्थात् ध्यानपूर्वक विचार करने से था। इत्यादि दृष्टान्तों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समय भेद से शब्दार्थ बदलते रहते हैं। अतएव हमारा कथन है कि यदि वर्तमान समय में आलम्भन का अर्थ मारना किया जाता है तो इस से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ब्राह्मणग्रन्थों के समय अथवा मूलवेद में भी आलम्भन का अर्थ मारना ही है।

जैसे हम पहले बतला चुके हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों की ही व्याख्या हैं अतः ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का यदि मूलवेद से ही पता लगसके तो लगाना चाहिये।

यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में एक मन्त्र आता है—

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते वाचे प्लुषीन्
चक्षुषे मशकान् श्रोत्राय भृंगाः॥ य० २४।२९

यदि इस मन्त्र में आलभते क्रिया को मारण परक माना जाय तो हम पूछते हैं, कि प्रजापति, अर्थात् जो प्रजा का

मालिक हो वा राजा हो उस के लिये पुरुषों और हाथियों का आलम्भन क्या होगा? क्या राजा लोग पुरुषों तथा हाथियों का मांस ही खाते हैं, जिस से उनके लिये पुरुषों तथा हाथियों को मारा जाय, एवं चक्षुओं के लिये मपकों तथा कर्णों के लिये भृङ्गों वा भ्रमरों का मारना कैसे बन सकता है, क्या भ्रमरों की मधुरगुञ्जान कर्णों के लिये कटु प्रतीत होती है जिस से कर्णों के लिये भ्रमरों का आलम्भन वा मारण किया जाय।

हमारे विचार में तो यहां आलम्भन का अर्थ मारण उचित्र प्रतीत नहीं होता, किन्तु आलम्भन से प्राप्ति का अर्थ लेना चाहिये। जिस से प्रजापति अर्थात् राजा महाराजाओं के लिये युद्धों के लिये तथा अपनी सेवा के लिये तथा प्रजा के प्रबन्ध के लिये पुरुषों का आलम्भन वा प्राप्ति, एवं सवारी वा युद्ध के लिये हाथियों की प्राप्ति सङ्गत प्रतीत होती है। वही पुरुष प्रजापति कहलाता है जिस के पास बहुत से नौकर चाकर तथा हाथी घोडे हों, इसी प्रकार कर्ण के लिये भ्रमरों के आलम्भन से भी यही तात्पर्य्य है कि यदि मधुर मधुर शब्द सुनने हों तो वाटिकामें जाकर भ्रमरों की प्राप्तिसे अपने कानों को आप्यायित करो। इत्यादि, इसी अध्याय में एक और मन्त्र आता है:—

धूम्रान्वसन्तायालभेत श्वेतान्ग्रीष्माय
कृष्णान् वर्षाभ्योऽरूणाञ्छरदे पृषतो
हेमन्ताय पिशंगान् शिशिराय ॥ ११ ॥ य० २४। ११

इस मंत्र में भिन्न भिन्न ऋतुओं में काली सफेद आदि वस्तुओं के आलम्भन करने की आज्ञा दी गई है। तथा ग्रीष्मऋतु में श्वेत वस्तु का आलम्भन बतलाया गया है, इस से स्पष्ट प्रतीत होता

है कि गर्मियों में श्वेत वस्त्र पहनने चाहिये, क्योंकि वर्तमान समय का नवीन विज्ञान भी बतलाता है कि उष्णता तथा प्रकाश को श्वेत वस्त्र बहुत जल्दी अपने ऊपर से प्रतिक्षिप्त कर देता है अतः गर्मियों में श्वेत वस्त्र ही पहनने चाहिये एवं वसन्त ऋतु वा शीतऋतु में कृष्णवस्त्र धारण करने उचित हैं इसी प्रकार अन्य भिन्न भिन्न ऋतुओं में भी। इस लिये हमें मानना पडता है कि यहां पर आलम्भन के अर्थ प्राप्ति के ही हैं, यदि यहां पर आलम्भन का अर्थ पशुमारण ही लिया जाय, तब हमें संसार में ऐसा कोई नियम नहीं दीखता जिस से पता लगे कि गर्मियों में श्वेत पशुओं को ही मार कर खाना चाहिये और वसन्त तथा वर्षाऋतु में कालों को ही, और नहीं। इस मंत्र में पशु शब्द पठित है, अतः वैदिकभाषा में आलम्भन शब्द से मारने के अर्थ को न लेकर प्राप्ति का अर्थ ही लेना चाहिये। अतएवः-

वसंताय कपिंजलानालभते ग्रीष्माय कलविंकान् वर्षाभ्यस्तित्तिरी-न्छरदे वर्तिका हेमंताय ककरान् शिशिराय विककरान्। समुद्राय शिशुमारा नालभते पर्जन्याय मण्डूकान् अद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वारुणाय नाक्रान्। भूम्या आखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्तान् दिवे कशान् दिग्भ्यो नकुलान् बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः॥

इत्यादि यजु.२४ अ. के मन्त्रों में भी यही समझना चाहिये कि वेद में भिन्न भिन्न प्राणियों के भिन्न भिन्न समुदाय बतलाये हैं जिन को मनुष्य ऋतुभेद से तथा स्थानभेद से प्राप्त कर सकता है खाने के लिये नहीं किन्तु मनोविनोदार्थ प्रदर्शनी के लिये। यदि खाने के लिये ही होते तो "वरुणाय नाक्रानालभते" इस के लिखने से क्या प्रयोजन था, नाकों के मांस को तो मनुष्य नहीं खाता इसी प्रकार वैद्यक में चूहे के मांस को भी हानिकारक बतलाया है फिर "भूम्या आखूनालभते" इस के लिखने से क्या प्रयोजन था?

हमारे विचार में तो यही आता है कि वेद में केवल इन प्राणियों का उत्पत्ति काल तथा निवासस्थान मात्र बतलाया है। क्योंकि वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है अतः उस में बीजरूपेण प्राणिविद्या का होना भी आवश्यक ही था।

इस प्रकार जब आप देख चुके हैं कि वेद में आलम्भन के अर्थ प्राप्ति के हैं न कि मारण के तब आप कैसे मान सकते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में जो वेदों की ही व्याख्या है आलम्भन शब्द मारने के लिये आता होगा, अतएव मानना पडेगा कि ब्राह्मणग्रन्थों में भी आलम्भन शब्द प्राप्त्यर्थक ही है। आलम्भन शब्द को प्राप्त्यर्थक मान लेने पर यज्ञ में गौ अश्व आदि पशुओं की प्राप्ति आवश्यक हो प्रतीत होती है, क्योंकि ऋत्विजों को दूध के लिये गौवों तथा भार आदि उठाने के लिये बैलों और अश्वों की आवश्यकता पडती ही है। रामायण तथा महाभारत आदिमें जहां अश्वमेध आदि बडे बडे यज्ञों का वर्णन आता है वहां हम देखते हैं कि केवल एक ही पशु नहीं किन्तु सहस्रों की संख्या में वहां पशु एकत्रित किये जाते हैं। महाभारत अश्वमेधपर्व के ८५ अध्याय में हम इस प्रकार का लेख पाते हैं-

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो।
सर्वानेव समानीतानपश्यँस्तत्र ते नृपाः॥ ३२॥
गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च
औदकानि च सत्वानि श्वापदानि वयांसि च॥ ३३॥
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युदभिजानि च
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते॥ ३४॥
एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः॥ ३५॥

अर्थात् युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ में आये हुवे राजाओं

ने स्थल में उत्पन्न होने वाले, जल में रहने वाले तथा अन्य नाना प्रकार के प्राणि देखे; जिन में से भिन्न भिन्न प्रकार की गौएं, भैंसें, भिन्न भिन्न देशों से आई हुई वृद्धस्त्रियें, जल में निवास करने वाले नानाप्रकार के प्राणि. तरह तरह के पक्षी, जरायुज, अण्डज, तथा स्वेदज, इसी प्रकार पर्वतों में निवास करने वाले प्राणि, इन सब प्रकार के प्राणियों को देख कर जो अश्वमेधयज्ञ में लाये गये थे राजा लोग बड़े ही प्रसन्न हुवे। एवं सहस्त्रों की संख्या में भिन्न भिन्न प्रकार के पशुओं का यज्ञों में एकत्रित करना केवल मारने के लिये ही नहीं हो सकता, किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन समय में यज्ञों के समय पशुओं की प्रदर्शिनी की जाया करती थी।

अथवा यज्ञ शब्द यज धातु से बना है जिस के अर्थ देवपूजा. संगतिकरण तथा दान यह तीन हैं, अतः जिस प्रदर्शिनी में अश्व आदि नानाप्रकार के पशुओं को एकत्रित वा सङ्गत किया जाता है उस प्रदर्शिनी को भी हम अश्वमेधयज्ञ के नाम से कह सकते हैं। यह यज्ञों में पशुवध सर्वथा नवीन कपोलकल्पित है, प्राचीन नहीं:

भीष्मपितामह महाभारत के शान्तिपर्व के २६४ अध्यायमें कहते हैं—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसासमनुवर्णिता ॥ ४ ॥

अर्थात् यज्ञ में हिंसा का विधान, उच्छृङ्खल, मर्यादाशून्य, मूढ, नास्तिक, लोगों की ओर से किया गया है; यह सब कपोल-कल्पित है प्राचीन समय में यज्ञों में हिंसा नहीं होती थी।

शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड में तो एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि "राष्ट्रं वा अश्वमेधः" अर्थात् राष्ट्र की रक्षा वा पालन करने का ही नाम अश्वमेध है।

उपनिषद् में "इन्द्रियाणि हयानाहुः" इत्यादि वाक्यों से इन्द्रियों को अश्वों के साथ उपमा दी गई है अतः अश्वमेध का अर्थ इन्द्रियों का वश में करना भी हो सकता है ।

इसी आशय को मन में रखकर मनुभगवान् मनुस्मृति के एकादश अध्याय में कहते हैं:—

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापोपनोदनम् ॥

यहां पर अघमर्षण सूक्त की अश्वमेधयज्ञ के साथ तुलना करके कहा गया है कि जिस प्रकार सब यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ सर्व पापों का दूर करनेवाला होता है इसी प्रकार अघमर्षण सूक्त भी पापों का दूर करनेवाला है ।

यज्ञ में घोडे को मारने से कभी पाप दूर नहीं हो सकते किन्तु यदि अश्व शब्द से इन्द्रियें ले ली जांय तो इन्द्रियों को वश में कर के शान्तचित्त रहने से पापों से अवश्यमेव छुटकारा हो सकता है, अतः अश्वमेधयज्ञ से तात्पर्य इन्द्रियदमन से भी है ।

गोमेध यज्ञ के विषय में महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि "गौ शब्द का अर्थ पृथिवी का है अतः पृथिवी में हल चलाकर उस में कृषि करने के व्यवहार को ही गोमेध यज्ञ कहना चाहिये न कि उस याग को जिस में गौ का वध किया जाय, क्यों कि गौ अघ्न्या है"। इसी प्रकार पारसियोंमें भी गोमेजयज्ञ प्रसिद्ध है जो गोमेध का अपभ्रंश प्रतीत होता है, उनकी धर्मपुस्तक जिन्दावस्था में भी गोमेज के वही अर्थ किये गये हैं जो स्वामी जी महाराज ने गोमेध के अर्थ किये हैं । अतः मानना पडता है कि यज्ञ में गौ, अश्व आदि का मारना यह सब आधुनिक कपोल कल्पित हैं प्राचीन नहीं ।

पशु शब्द।

वेद में पशु शब्द से किन किन वस्तुओं का ग्रहण होता है इसको हम एक वेदमन्त्र से ही दिखलाना चाहते हैं। यजुर्वेद के २३ वें अध्याय में एक मंत्र है:-

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयत् यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयत् यस्मिन्वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयत् यस्मिन्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः।

यह मन्त्र स्पष्टतया बतलाता है कि अग्नि, वायु, सूर्य यही पशु हैं जो मनुष्य इन पशुओं से यज्ञ करता है अर्थात् इन को अपने प्रयोग में लाना सीखता है वही सर्वत्र विजय को प्राप्त होता है। वेद में पशु शब्द केवल पशु में ही रूढ नहीं किन्तु वैदिक शब्द प्रायः यौगिक होते हैं इसी प्रकार ब्राह्मणग्रंथों में भी समझ लेना चाहिये। परन्तु यदि ब्राम्हणग्रंथों में कहीं मांसभक्षण वा यज्ञ में मांसप्रक्षेपण का विधान आ भी जावे तब भी हम उसे ब्राम्हणग्रंथके परतः प्रमाण होनेसे तथा वेदविरुद्ध होनेसे त्याज्य मान सकते हैं।

अत एव जब वेद में पशु शब्द से अग्नि, वायु तथा सूर्य लिये गये हैं तो ब्राह्मण वाक्यों में पशु शब्द से साधारण लोकप्रसिद्ध पशु कैसे लिया जा सकता है इस से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणग्रंथ तथा वेद " अग्निषोमीयं पशुमालभेत। " इत्यादि वाक्यों से एक अति महान् तथा उच्च, अग्नि, वायु, तथा सूर्य की विद्या को प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। किन्तु मूर्ख मनुष्यों ने उस के यथार्थ अर्थों को न समझ कर अपने स्वार्थ के लिये मनघडन्त अर्थ कर लिये हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से मांस का यज्ञ में डालना कब से चला इस को बतलाते हुये कहते हैं—

य इच्छेत् पुरुषोत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्
स वर्जयेत् मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥
श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः
येनाऽयजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥

अर्थात् जो मनुष्य अपनी जीवनयात्रा शांति से व्यतीत करना चाहे उस के लिये चाहिये कि वह मांसभक्षण कभी भी न करे।

ऐसा सुना जाता है कि पुराने जमाने में मनुष्य "पाति इति पशुः" पालन करने हारा होने से व्रीहिमय अथवा धान्यमय ही पशु समझते थे और उसी से पुण्यलोक की प्राप्ति के लिये ऋत्विग् लोग यज्ञ किया करते थे। ये श्लोक स्पष्ट बतला रहे हैं कि महाभारत से ३०० वा ४०० वर्ष पूर्व यज्ञ में मांस नहीं डाला जाता था, किन्तु पशु शब्द से व्रीहि को ही लिया जाता था क्योंकि धान्य ही प्राणरक्षार्थ उपयोगी वस्तु है यह यज्ञ में पशु का मांस डालने की विधि महाभारत से कुछ ही पूर्व जब आर्य्यजाति पतित होने लगी थी चली है।

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म जी कहते हैं-

दुष्करं हि रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम्
चर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम् ॥

अर्थात् मांस के रस का आस्वाद विदित हो जाने पर मांस का छूटना असम्भव है, मांसभक्षी कभी भी सर्वोत्तम अहिंसाव्रत का पालन नहीं कर सकता। केवल मांसभक्षणरूपी दुर्व्यसन का ही यह हाल नहीं किन्तु सब व्यसनों में ऐसी ही प्रवृत्ति देखी जाती है, एक वार भी यदि कोई व्यसन किसी मनुष्य के पीछे लग जाय तो उस का उस व्यसन से छूटना दुःसाध्य हो जाता है

मांस की तो कथा ही क्या है, क्योंकि मांसास्वादन तो रसना का विषय है, लोभ से बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं " लोभ ही सब पापों का मूल कारण होता है" अतः जब आर्यजाति को इस मांसभक्षण रूपी दुर्व्यसन ने आ दबाया तब यह लगातार शीघ्रगति से बढ़ता ही गया, इसकी वृद्धि इतनी होगई कि लोग मांसभक्षण तथा पशुओं को यज्ञों में डालने को धर्म ही समझने लग गये। उन्होंने वेदमन्त्रों तथा ब्राह्मणवाक्यों के अर्थों का भी अनर्थ कर डाला तथा सैकडों स्वार्थी मांसलोलुपों ने धर्मग्रन्थ मनुस्मृत्यादि में भी मांसभक्षणपरक श्लोक मिला दिये, परन्तु उन धूर्त्तों की यह धूर्त्तता छिपी न रह सकी, यदि वह मांसवर्जनपरक श्लोकों को इन धर्मग्रन्थों से निकाल कर अपने मन घड़न्त श्लोक वा सूत्र इन में मिलाते तो उनकी कार्य्यसिद्धि हो जाती परन्तु--

धूर्त्तानाञ्च खलानाञ्च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्रायाः न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्॥

इस न्यायानुसार उन धूर्त्तों को मांसनिषेधक श्लोकों वा सूत्रों के निकाल देनेकी न सूझी अतएव अब उन की पोल स्पष्टतया खुल गई है, एवं जितने मनुस्मृत्यादि धर्मग्रन्थों में मांसपरक श्लोक मिलते हैं उनको महाभारत के समय के पश्चात् का क्षेपक समझना चाहिये, पुराण तथा तन्त्रग्रन्थ तो बने ही वामियों के समय में हैं अतः इनके वचनों पर श्रद्धा नहीं की जा सकती।

वाममार्ग के समय यज्ञ में पशुवध इतना बढ गया था कि उस समय अहिंसाधर्म के प्रचारार्थ महात्मा बुद्ध को जन्म धारण करना पडा। परन्तु तथाऽपि पौराणिकधर्म बल पकडता ही गया। यही मुख्य कारण है जिस से मांसभक्षण तथा मांस को यज्ञों में डालने का प्रचार दिन दुना रात चौगुना बढता ही गया, और

आज हम देखते हैं कि प्रायः सारे भूमण्डल में मांस का प्रचार हो रहा है। कोई धर्मपुस्तक ऐसी नहीं मिलती जिस में मांसभक्षण का विधान न पाया जाता हो परन्तु वास्तविक बात क्या है इस को वही समझ सकता है जिसने प्राचीन संस्कृत साहित्य का अनुशीलन किया हो तथा सत्य की खोज करना चाहता हो।

वर्तमान समय की सांसारिक दशा को देख कर हम परमात्मा से यही प्रार्थना करेंगे—

ये वाजिनं परि पश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥

अर्थात् ए भिन्न भिन्न देश के राजे महाराजाओ ! वह मनुष्य जो सुन्दर गमन स्वभाव तरुणावस्थापन्न परिपक्व शरीरयुक्त अश्वों अथवा अन्य प्राणियों के मांसों की भिक्षा करना चाहते वा करते हैं जिन के मन में दया का लेश नहीं उनको अपने अपने राज्यों से (निःहर) पृथक् कर दो। और उन मांसभोजियों का बल शाक वा फलभोजियों को प्राप्त हो जिस से फलभोजी अपने सच्चे धर्म का प्रचार सुगमता से कर सकें तथा मांसभक्षण की कुरीति को संसार से सर्वथा दूर हटा सकें। इति ।

'नर-मेध'

'पुरुष-मेध, नर-मेध, नृ-मेध, मनुष्य-यज्ञ, नृ-यज्ञ' आदि नरमेध-वाचक सब शब्द एकहि भाव रखते हैं। 'मेध' शब्दके यौगिक अर्थः- (१) मिलना, (२) परस्पर मित्रता करना, (३) ऐक्य करना, (४) एक दूसरेको जानना, (५) जोडना, (६) प्रेम करना, (७) धारणाबुद्धिका बल और तेज बढाना, (८) पवित्रता करना,(९) सत्व, बल और उत्साह बढाना, (१०) यज्ञ अर्थात् 'सत्कार-मैत्री-उपकार' करना इतने हैं। मेध-वाचक इन अर्थोंके साथ 'नर-मेध' शब्दके अर्थः- (१) मनुष्योंका मिलान करना, (२) मनुष्योंमें, परस्पर मित्रता करना; (३) मनुष्योंका ऐक्य करना; (४) मनुष्योंने परस्पर एक दूसरेको अच्छी प्रकार जानकर व्यवहार करना; (५) मनुष्योंमें परस्पर प्रेमका संबंध जोडकर उसको अधिक दृढ बनाना; (६) मनुष्योंमें परस्पर प्रेमका वर्ताव करना; (७) मनुष्योंकी धारणाशक्तिकी वृद्धि करना; (८) मनुष्योंको पवित्र बनाना, (९) मनुष्योंमें सत्त्व, बल, उत्साह आदि गुणोंकी वृद्धि करना, (१०) मनुष्योंमें सत्कार भाव, परस्पर मित्रता और परस्परका औदार्य बढाना; इ० होते हैं। इन्हीं अर्थोंको लेकर मनुभगवानने कहा है किः—

नृ-यज्ञोऽतिथि-पूजनम्। मनु. ३। ७०॥

'अतिथिका सत्कार करनाहि मनुष्य-यज्ञ है।' आजकल 'नर-मेध' का भाव 'नरमांसका हवन करना,' समझते हैं, परंतु इस

आशयके लिये वेदमें कोई आधार नहीं। यजु० अ० ३० और ३१ में ' नरमेध ' का विषय आया है । इन दोनों अध्यायोंमें ऐसा एकभी मंत्र नहीं है, कि जिससे नरमांसके हवनका थोडासाभी भाव निकल सके। अ० ३१ के विषयमें जो लिखना होगा वह उस अध्यायके प्रस्तावमें लिखूंगा, यहां केवल अ० ३० के विषयमें हि लिखना है।

मेधमें हिंसाका भाव।

' मेध ' में हिंसाका भाव है। 'मेधृ--मेधा-हिंसनयोः संगमे च'। ऐसा अर्थ मुनीश्वर पाणिनी देते हैं। अर्थात् ' मेध ' का अर्थ— (१) मेधा बुद्धि वढाना, (२) हिंसन करना और (३) संगम अर्थात् संगति किंवा मित्रता करना। जिनके साथ मित्रता करनी और जिनकी मेधाबुद्धि वढानी, उन्होंकी हिंसा करनीः यह वात सुसंगत नहीं दीखती। उदाहरणके लिये देखीएः--ज्ञानी पुरुषोंके साथ मित्रता करनी उचित है और साधारण मनुष्योंकी धारणा-शक्तिकी वृद्धि करके उनको उन्नत करना आवश्य है, ये दोनों वातें सर्वसंमत हो सकतीं हैं; परंतु इनही मनुष्योंका हनन करना किस प्रकार योग्य हो सकेगा? यदि ज्ञानियोंका हनन हुआ, तो ज्ञानप्रचार और बुद्धिवर्धनका कार्यहि नष्ट होगा; इसलिये इस शब्दमें जो हिंसा का भाव है, वह ज्ञानके विरोधियोंके विषयमें समझना उचित हैं। जैसा देखीएः--(१)विद्वानोंके साथ मित्रता करना, (२) मनुष्यों की धारणाबुद्धिकी वृद्धि करना और (३) जो इन दो कर्तव्योंके साथ विरोध करेंगे उनकी हिंसा करना अर्थात् उनका विरोध हटाना अथवा विरोध करनेवालोंको दूर करना। इसी प्रकार इस शब्दके हिंसाका अर्थ समझना उचित है। अन्यथा अर्थका अनर्थ हो जायगा और वेदके उत्तम आशयका विघाड होगा। इसलिये

उन्नतिके विरोधक दस्युभावका हनन अर्थात् नाश करनाही यज्ञकी हिंसा है। इसी हेतुसे अहंकार, क्रोध, आलस आदिका मानस-यज्ञ-द्वारा नाश करनेके लिये उपनिषद् ग्रंथोंमें कहा है। 'मन्युः पशुः' आदि शब्दोंका यही आशय है कि, ज्ञानविरोधक जो क्रोध आदि पाशवी वृत्तियां हैं, उनहीका नाश करना आध्यात्मिक यज्ञीय हिंसाका तात्पर्य है। निम्न कोष्टकसे 'मेध' के 'मेधा, संगम और हिंसा' के भावोंका स्पष्ट पता लग जायगा—

नर–मेध।

मेधा शक्ति। संगति-करण।	हिंसा।
१ मनुष्योंका मेलमिलाप,	१ परस्पर न मिलना,
२ परस्पर मित्रता,	२ परस्पर द्वेषभाव,
३ परस्पर ऐक्य,	३ परस्पर भेदभाव,
४ परस्परका उत्तम ज्ञान,	४ परस्परका अज्ञान,
५ परस्परका दृढ संबंध,	५ परस्परकी उदासीनता,
६ परस्परका प्रेम,	६ परस्पर अप्रीति,
७ बुद्धिका विकास,	७ बुद्धिका संकोच,
८ मनुष्योंकी पवित्रता,	८ मनुष्योंकी अपवित्रता,
९ बलकी वृद्धि,	९ बलका नाश,
१० परस्पर सत्कार और सहाय	१० परस्पर निरादर और दोषदृष्टि
संरक्षक विचार।	विनाशक विचार।
प्राप्त करना।	दूरकरना।

इस प्रकार 'मेध' के हिंसाभावका तात्पर्य है। 'वुद्धि, संगति' और 'हिंसा' इन तीनों भावोंका विशेषतया नरमेधमें और सामान्यतया सब मेधोंमें यही तात्पर्य है। जो वुद्धि और संगति का विरोध करेगा, उसको दूर हटाना है। यही भाव लेकर इस अध्यायका निम्न मंत्र देखीए

ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत।
क्षत्राय राजन्यं आलभेत।

'ज्ञानके लिये ब्राह्मणको प्राप्त करे। शौर्य के लिये क्षत्रियको प्राप्त करे।' यह वास्तविक अर्थ है। परंतु भ्रमसे इन मंत्रोंका निम्नप्रकारका अर्थ समझा जाता है-

'ब्रह्म देवताके प्रीत्यर्थ ब्राह्मणका आलंभन अर्थात् वलिदान करे, क्षत्रदेवताके प्रीत्यर्थ क्षत्रियका वलिदान करे।' इस अध्याय के श्री. उवटाचार्य और महीधराचार्यके भाष्योंमें इसीप्रकार अर्थ किये हैं। और इनके भाष्यानुसार पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रजीने अपने यजुर्वेदके मिश्रभाष्यमें भी इसी प्रकारका भाव वताया है। पंडित ज्वालाप्रसादजी कहते हैं कि, 'ग्यारह यूप... सुशोभित करने चाहिए।' जिसमें ...... ब्राह्मण--क्षत्रियादि सव पुरुषोंको नियुक्त करना चाहिए।' इसी अध्यायके प्रसंगमें पं० ज्वाला-प्रसादजी ब्राह्मणक्षत्रियादिकोंको यूपोंके साथ वांधनेके लिये कहते हैं। कौनसा तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण तथा मानधन वीर्यशाली उग्र क्षत्रिय अपने आपको यूपके साथ वंधवानेके लिये सिद्ध होगा? अथवा जो अपने आपको पशुवत् यूपके साथ वंधवानेके लिये सिद्ध होगा, वह ब्राह्मण और वह क्षत्रिय भी किस श्रेणीका होगा? जिसमें मनुष्यत्व और पशुत्वके भेदका भी परिज्ञान नहीं है। वास्तव वात इतनीही है कि, जो वात वेदमंत्रोंमें नहीं है, वही वेदमंत्रोंपर लदानेका संकल्प इन लोगोंने किया है। ज्ञानसे अथवा अज्ञानसे इन लोगोंने अर्थका अनर्थ कर छोडा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

साधारण विचारसे भी इसका पता लग सकता है कि ' ज्ञानके लिये ज्ञानीके पास पहुंचना चाहिए' न कि ज्ञानीका वध करना चाहिए, तथा 'वीरताके लिये क्षत्रियको पास करना चाहिए' न कि शूर पुरुषका वध करना चाहिए। वध तो उनका करना चाहिए कि,जो ज्ञान और शौर्यके प्रचारमें विघ्न खडा करेगा और लोगोंको ज्ञान और शौर्यसे वंचित रखेगा। मेधके ' मेधा-संगम' ' हिंसा ' इन तीन अर्थोंकी व्यवस्थाको न समझनेके कारण इन लोगोंने भ्रमसे विपरीत अर्थ किये हैं, वे सब त्याज्य हैं। ' नृ-यज्ञ' का अर्थ अतिथि-पूजा, जो मनुने कहा है, उसकी ओर भी यदि इनका ख्याल चले जाता. तो भी ये सब विद्वान ठीक मार्गपर आ सकते थे: परंतु दुर्दैव है कि मनुकी सूचनाकी ओर किसीका ध्यान पहुंचाहि नहीं। अब नरमेधका अर्थ विशेष स्पष्ट होनेके लिये नरमेधका तात्पर्य नीचे देता हूं—

'नरमेध' का तात्पर्य

' मनुष्यत्वका विकास' है।

यज्ञवाचक वैदिक शब्दोंका विचार करनेसे नरमेध अथवा पुरुषमेधका मुख्य उद्देश ' मनुष्यत्वका विकास ' है, यही बात निश्चित होती है। ज्ञान, बल, तेज, वीर्य, पौरुष आदि गुणोंकी वृद्धि प्रत्येक मनुष्यमें करना और प्रत्येक मनुष्यके सब शक्तियोंका विकास करना, नरमेधका व्यक्तिविषयक कर्तव्य है। तथा राष्ट्र और समाजमें उक्त गुणोंसे युक्त गुणी पुरुषोंकी संख्या बढाकर ज्ञान, बल, तेज, वीर्य, पौरुष और उत्साहमय ओजस्विता उत्पन्न करना नरमेधका जनताके विषयक कर्तव्य है। समाजमें संघकी शक्ति बढाकर सब राष्ट्रको एक जीवनसे युक्त करना ही पुरुषमेधसे

साध्य है। (१) सत्कार, (२) ऐक्य, (३) मित्रता, (४) परोपकार, (५) सुविचार, (६) अहिंसा, (७) ज्ञानप्रचार, (८) नीतिधर्म, (९) उत्साह, (१०) उपभोग, (११) देवत्वका विस्तार, (१२) उन्नति, (१३) विकास, (१४) शांति और (१५) रक्षण। ये पंध्रह भाव मुख्यतया यज्ञके पंध्रह नामोंसे प्रकट हो रहे हैं। यज्ञवाचक प्रत्येक शब्दके जो अनेक अर्थ हैं, उनको देखनेसे और भी अनेक गूढ आशय प्रकट हो सकते हैं। परंतु उक्त १५ भावहि यज्ञका आत्मा है। इनमें 'अ—ध्वर' शब्दसे 'अ-हिंसा' का आशय व्यक्त होनेके कारण यज्ञमें हिंसाका अर्थ आ नहीं सकता। मनुष्य अथवा पशुका वध करना और उसके मांसकी आहुतियां देना, तथा इस प्रकारके समांस यज्ञकी कल्पना करना, वेदमंत्रोंके उपदेशसे सर्वथा विरुद्ध है। नरमेधका वर्णन यजु० अ० ३० । ३१ में है। इन दोनों अध्यायोंमें एकभी ऐसा मंत्र नहीं, कि जिससे नरमांसके हवनकी शंकाभी किसीके मनमें उत्पन्न हो सके।

नरमेधके विषयमें

युरोपीयन लोगोंकी संमति।

म० राल्फ टी० एच्. ग्रिफिथ् महोदय कहते हैं:-

(यजुर्वेद भाषांतर अ. ३० पृ. २५५) 'यजु. ३० । ३१ अध्याय पुरुषमेध अथवा मनुष्यके बलिदान का वर्णन करते हैं। यह प्रथा प्रायः सब प्राचीन देशोंमें बहुत पुराणे समय से चली आई है। यह यज्ञ ब्राह्मण अथवा क्षत्रियकोहि करनेका अधिकार है। इसके करनेसे वह फल प्राप्त होते हैं, कि जो अश्वमेधसे नहीं मिल सकते। इस पुरुषमेधकी यज्ञप्रक्रिया अश्वमेधके समानहि है। अश्वके स्थानपर, मनुष्य, सबसे श्रेष्ठ बलि, केवल

चिह्नमात्रसे अथवा वास्तविक रीतीसे अर्पण किया जाता है, तथा मनुष्यके साथ अनेक जाति, आकार, रंग, स्वभाव, धंदे आदिके अनेक स्त्रीपुरुष यूपके साथ बांधे जाते हैं, जहां अश्व मेध में जंगली और ग्रामीण पशु बांधे जाते हैं, जैसा कि अ. २४ में लिखा है। ये नाममात्र बलि यज्ञसमाप्तिके पश्चात्, किसी प्रकारका घातपात न कराके, खुले किये जाते, हैं, और शुक्लयजुर्वेदके आधारसे यह बात स्पष्ट है कि यह सब क्रिया केवल लक्षणमात्र है। विश्व-पुरुष, चैतन्य, अथवा पुरुषके आत्म—बलिदानके रूपक अलंकारका यह एक नमूना है।"

म० झेनेद अ० रागोझिन् महोदय की संमतिः-
(राष्ट्रोंकी कथाएं-वैदिक इंडिया पृ० ४०७-४१३) परसे—

"अश्वमेधमें प्रथमतः घोडे के पीछेसे मनुष्य और पहिले बकरा बलिदानके लिये ले जाते थे। प्राचीन आर्योंकी पूजा-विधिमें नरबलिका एक भाग था इसमें कोई संदेह नहीं...... हिंदुस्थानके आर्य खुलंखुला स्पष्ट बात कह देनेमें, सब अन्य आर्योंकी अपेक्षा, आगे कदम बढाये हुए थे। उन्होंने स्पष्टतासे मनुष्यको पहिला श्रेष्ठ पशु कहा था। यज्ञ दो प्रकारका था, एक रक्तयुक्त और दूसरा रक्तरहित। रक्तयुक्त खूनी यज्ञ के लिये मनुष्य, घोडा, हरण, बकरा और मेंढा ये पांच पशु योग्य माने गये हैं। असली यज्ञमें पांचहि पशुओंका बलिदान इष्ट है। प्रकट हुआ हुआ श्रुतिशास्त्र, यजुर्वेद, श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण आदि सब पुस्तकें इस विषय में सब विधि बता रहे हैं। शहरके कीलेकी दिवारोंके लिये जो ईंटें बनाईं जातीं थीं, उनके लिये गारा बनानेके कारण पानीमें उक्त पांच पशुओंके शरीर

रखे जाते थे, जिनके रक्तसे ईंटोंकी दृढता अधिक होती है ऐसा उनका ख्याल था। मनुष्य यज्ञका यह एक अवसर था। दूसरा नरमेधका अवसर अश्वमेधके समय होता था। इससे तीसरा अवसर खुलंखुल्ले मनुष्यबलिदानका पुरुषमेधमें होता था। यह यज्ञ सबसे श्रेष्ठ था और क्षत्रिय और ब्राह्मणहि, हजार गौवें और सौ घोडोंके बदले खरीद कर इसमें बलिदान किये जाते थे। इसमें १६६ से १८४ तक विविध जातियोंके मनुष्योंका बलिदान होता था। इस प्रकारके पूरे पूरे कसाईपनकी विधि शतपथ ब्राह्मणमें दी है। परन्तु वहां उक्त विधि एकदम बंद होती है और एक आवाज सुनाई देता है:- 'जब वह अग्नि उक्त पशुओंके चारों ओर घुमाया जाता है और जब उनके वधकी सब तैयारी होती है तब एक आवाज सुनाई देता है-- 'हे मनुष्य ? पूर्ण न कर, यदि तू यह कर्म पूर्ण करेगा, तो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको खायेगा।' यह बात समझमें आनेके लिये एक प्रथा ध्यानमें धरनी चाहिए, वह यह है कि अर्पित बलिओंका मांस ऋत्विजोंमें बांटा जाता था। इस भयानक प्रथाका उच्छेद करनेकी अत्यंत आवश्यकता उत्पन्न होनी अत्यंत स्वाभाविक बात थी। किसीकिसी समय सुवर्णके सिर प्रतिनिधिके रूपमें रखे जाते थे। परंतु निःसंदेह अश्वमेधके साथ मनुष्यका बलि देनेका विधि बहुत देरतक आचरणमें था। इस बलिदानके लिये ऋषिकुलमें उत्पन्न हुआ हुआ वृद्ध, अशक्त, मरियल कुष्टरोगी- जिसको कि 'देवोंके पास जाना' इस दुःखसे छुटकारा होने के कारण सुखकारक था-खरीदा जाता था। परंतु इस प्रकार के रक्त पातके विधिकी निरादरता हिंदी आर्योंके मनमें आरूढ हुई और उसी शतपथ ब्राह्मणमें रक्तरहित अर्पणका प्रभाव निम्न कथाभागसे वर्णन किया है:- ...

२०...... परंतु किसी बातके निषेधसेहि उस बातकी एक कालमें स्थिति सिद्ध होती है। इसलिये हम आर्य पूर्वजोंसे उस धब्बेको मिटा नहीं सकते और जो धब्बा सब जातियोंपर लगाही हुआ हैं, कि किसी न किसी समय, मनुष्यका बलिदान करने की भयानक प्रथा उनमें आवश्य थी।'

महाशय ए. बी. कीथ महोदय की संमतिः-

(तै. संहिता. पृ. १३१ - १४०)

' इसमें कोई संदेह नहीं कि यह सब विधि याज्ञिकोंकी कल्पित बनाई है, इसलिये कि, यज्ञ परिपाठीमें मनुष्यके लिये कोई स्थान नहीं थाः इस न्यूनताकी पूर्ति इस कल्पित विधिने की है। यजुर्वेदके मूलमंत्र केवल आलंकारिक मनुष्यवध बता रहे हैं, जो सब मनुष्य थोडे उचित विधिके पश्चात् खुले किये जाते हैं और मनुष्येतर पशुओंकाहि बलिदान किया जाता है। .... अब मनुष्यका रक्त यज्ञविधिमें छिडका जाता था इस बातका इनकार नहीं किया जा सकता। ....इस बातका इनकार करना अशक्य है, क्योंकि मकानोंकी तयमें मकानका संरक्षण करनेके लिये मनुष्यका वध किया जाता था। यह परिपाठी दुनियांभर चल रही थी, जिसकी नकल हिंदुस्थानमें भी वारंवार हो रही थी परंतु नरमेधका वास्तविक अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि यह नरमेध नहीं। यजुर्वेदमें इस प्रथाके समान कोई विधि नहीं है।"

इसी प्रकार सब युरोपियनोंकी संमति है।इनके मतका सारांश निम्न प्रकार हो सकता हैः-

(१) प्राचीन कालके सब लोगोंमें मनुष्यके बलिदानकी प्रथा थी।

(२) घोडा, बैल, बकरा, मेंढा आदि पशुओंके बलिदानकीभी प्रथा थी ।

(३) यजु. अ० ३० । ३१ इन दो अध्यायोंमें पुरुषमेधका वर्णन है । यद्यपि इन अध्यायोंमें साक्षात् मनुष्यवधके लिये कोई आधार नहीं, तथापि वेदके पूर्वकालीन मनुष्यके बलिदानकी प्रथा का सूचक यह यज्ञ प्रतीत होता है ।

(४) यजु. अ० ३० । ३१ इन दो अध्यायोंमें अनेक जातियों के मनुष्योंका उल्लेख सूचित करता है, कि वेदके पूर्वकालमें सरास मनुष्यका बलिदान आर्योंमें प्रचलित था ।

(५) रूपक अलंकारसे ये दोनों अध्याय परमात्माका वर्णन करते हैं ऐसा भी माना जा सकता है ।

(६) आर्योंकी पूजाविधिमें अन्य पशुओंके बलिदानके साथ मनुष्यके बलिदानका भी एक भाग अत्यंत प्राचीन कालमें था ।

(७) यद्यपि मंत्रोंमें मनुष्यवधके लिये कोई आधार नहीं, तथा ब्राह्मणोंमें भी निर्मांस यज्ञको पुकार दिखाई देती है, तथापि एक कालमें मनुष्यका बलिदान तथा अन्य पशुओंका बलिदान करनेका प्रचार आर्योंमें था; यह बात सिद्धहि है । क्योंकि निषेधसेहि इसका अनुमान हो सकता है ।

(८) यज्ञमें इतर पशुओंका हवन है, मनुष्योंका नहीं । इस लिये याज्ञिक लोगोंने वधरहित नाममात्र मनुष्ययज्ञकी प्रथा शुरु की होगी ।

(९) कदाचित् मनुष्यके बलिदानकी प्रथा अनार्योंमें होगी उसमें वधका निषेध करनेके लिये आर्योंने यह वधरहित नाममात्र आलंकारिक मनुष्ययज्ञ खडा किया होगा ।

(१०) शतपथ आदि ब्राह्मणग्रंथोंमें नरयज्ञकी विधि दी है और आगे जाकर यज्ञविधिकी पूर्णता न लिखते हुएहि मनुष्यके

बलिदानका ओरसे निषेध किया है।

सारांशरूपसे ये दस सूत्र हैं, कि जो युरोपीयन लोगोंकी संमति प्रकाशित कर सकते हैं। युरोपीयन पंडितोंकी संमति किसी एक बातमें अत्यंत निश्चित हुई है, ऐसा नहीं दिखाई देता। वैदिक वाङ्मय पढनेसे उनके मनमें जो शंकाएं आतीं हैं, उनको वे लिख मारते हैं। उनकी अबतक निश्चित कोई संमति नहीं। ऊपर लिखीं हुई उनकी संमतियां रेतके कीलेके समान अस्थिर हैं।

(१) हमें वेदके पहिले क्या प्रथा थी इसका विचार कर्तव्य नहीं, (२) अवैदिक अनार्य दस्यु लोगोंमें क्या आचार थे इसका भी विचार करनेकी हमें आवश्यकता नहीं, (३) सब दुनिया-भरके प्राचीन कालके अज्ञानी पूर्वज क्या करते थे, इसका विचार हमें इस समय करना नहीं है, (४) वेदके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों-में क्या लिखा है, इसका भी हमें विचार करना नहीं है, परन्तु(५)

हमको इस बातका अवश्य विचार करना है कि 'वेद' स्वयं क्या कह रहा है?

यूरोपियन पंडितोंकी संमतियोंके महासागरका मंथन करनेके पश्चात् हमारे पास कोई ऐसा एक भी वेदमंत्र नहीं आया, कि जिस में मनुष्यके बलिदानका स्पष्टतासे उल्लेख किया हो। अथवा नर-मांस-हवनका स्पष्टतापूर्वक संबंध बताया हो। सब यूरोपियन पंडित इस बातमें सहमत हैं कि; "यजु० अ० ३० और ३१ में मनुष्य के बलिदानका उल्लेखतक नहीं है, तथा नरमांसका हवन करनेका उल्लेख करनेवाला एक भी मंत्र तमाम वेदोंमें नहीं है।" बस! हमें तो यही बताना है कि, वेदके मंत्रोंमें नर-मांस-हवनका उल्लेख

नहीं है। बाकी दुनियांकी जो अवस्था होगी, सो होगी, हमें उसका विचार करनेके लिये इस समय फुरसत नहीं है और न आवश्यकता है।

जब सब यूरोपियन पंडित एक मतसे मानते हैं, कि मनुष्यके बलिदानका उल्लेख मंत्रमय वेदमें नहीं है, तब वे कैसे कह सकते हैं, कि आर्योंमें मनुष्यके बलिदानकी प्रथा अवश्य थी ? वेदके मंत्रोंने जितना धर्म कहा है, उतना ही आर्योंका वैदिक धर्म है। और जिस कारण वेदमंत्र मनुष्यबलिका उपदेश नहीं करते हैं, उस कारणसे यह बात सिद्ध है कि 'शुद्ध वैदिक धर्ममें मनुष्यके बलिदानका विधि नहीं है।' जबतक कोई पंडित वेदके मंत्रोंको पेश करके यह बात नहीं सिद्ध करता, कि मनुष्यका बलिदान वेदके मंत्रोंमें है, तबतक अन्य ग्रंथोंके प्रमाणसे सिद्ध होनेवाला नर-बलि अन्य ग्रन्थोंका मत होगा, वह मत वेदपर नहीं लगाया जा सकता। मैं यहां पाठकोंसे स्पष्टतापूर्वक बलके साथ कहता हूं कि नर-मांस-हवनकी प्रथा न केवल यजु० अ० ३० और ३१ में नहीं है, परंतु वेदके चारों संहिताओंमें ऐसा एक भी मंत्र नहीं है, कि जिससे नर-मांस-हवनका ध्वनि तक निकल सकता हो।

क्या वेदमें हिंसा नहीं है ?

जो लोक वेदमें हिंसा है और नरमेध, अजमेध, गोमेध आदि हिंसामय कर्म हैं; उनको निम्न मंत्र अवश्य देखने चाहिए:—

अश्वं.........मा हिंसीः...... ॥ ४१ ॥

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ ४२ ॥

अविं.........मा हिंसीः...... ॥ ४३ ॥

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् ॥ ४७)

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनम् ॥ ४८ ॥
घृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः ॥ ४९ ॥
इममूर्णायुं...मा हिंसीः ... ॥ ५० ॥ यजु. अ. १३
ओषधे त्रायस्व । स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ १ ॥ यजु. अ. ४
मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो ॥ यजु. १९।६२ ॥
मा हिंसीः पुरुषम्...... ॥ ३ ॥ यजु.१६।३॥
मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ यजु. १२।३२॥

'घोडेकी हिंसा न कर। (अ - दिति) हनन करने अयोग्य गाय है, इस लिये गायकी हिंसा न कर। भेडकी हिंसा न कर। दो पांववाले मनुष्य आदि प्राणियोंकी हिंसा न कर। घोडेकी हिंसा न कर। चूंकि लोगोंको गाय दूध और घी देती है; इस लिये उनकी हिंसा न कर। बकरेकी हिंसा न कर क्योंकि वह ऊन देता है। हे औषधी! रक्षण कर, हे शस्त्र, हिंसा न कर। हे रक्षको, किसी की हिंसा न कोजिए। पुरुष अर्थात् मनुष्यकी हिंसा न कर। प्रजाओंकी हिंसा न कर॥' इस प्रकार हिंसा का निषेध है। और देखिए:—

मा हिंसिष्टं वहतुमुह्यमानम् ॥ अथर्व १४।२।९
मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि ॥ अथर्व १४।१।६३

'ओढनेवाले बैल आदिको (अधिक जोरसे) ओढनेके लिये हिंसा न कर। देवोंके विस्तृत मार्गमें (कु-मार्यं; कु-मर्यं) पृथ्वीके ऊपरके मनुष्य आदि मर्य अर्थात् मर्त्य प्राणीकी हिंसा न कीजिये।' और देखिए:-

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ॥
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ अथर्व. ६।१४०।२॥

' चांवलोंका भोजन कीजिए, जौ खाईए, उडद अथवा तिल भक्षण कीजिए । रमणीयताके लिये आप सब लोगोंका यही भाग है । आपके दांत रक्षकोंकी तथा मान्यकर्ताओंकी हिंसा न करें । ' वेदका यह आशय है । इस प्रकार मनुष्य, घोडा, गाय, बैल, भेड और बकरा आदि पशुकी हिंसा करनेका निषेध वेद कर रहा है फिर यज्ञमें उक्त पशुओंका वध किस प्रकार किया जा सकता है । वधकर्ताओंको दूर करनेकी आज्ञा वेद करता है:-

आरे गो-हा नृ-हा वधो वो अस्तु ... ॥ ऋ. ७ । ५६ । १६

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् ...... ॥ ऋ. १ । ११४ । १०

' गायका वध तथा मनुष्यका वध करनेवालेको दूर करो । ' इस प्रकारकी वेदकी आज्ञा है । तात्पर्य वेद अहिंसामय कर्मोंका उपदेश कर रहा है । यह बात ' अ-ध्वर ' शब्दसे भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इस शब्दका अर्थ ' अ-हिंसा ' ऐसाहि है, और ' अ-ध्वर्-यु ' (अ-ध्वर्यु) का अर्थ अहिंसामय कर्मोंका प्रयोग करनेवाला है । इन बातोंका विचार करनेसे वेदका अहिंसाका भाव ज्ञात हो सकता है ।

यहां इतना कहना आवश्यक है कि, जैन और बौद्धोंके समान वेदकी अहिंसा सार्वत्रिक नहीं है । साप, विच्छू, वाघ आदि क्रूर प्राणियोंका तथा शत्रुभूत क्रूर मनुष्योंका वध करनेके लिये वेदकी आज्ञा है । जहां मनुष्यसमाज होगा वहां युद्धादिमें मनुष्यवध होना ही है । धर्मयुद्धमें मरनेसे उच्च गति होती है, और ऐसे स्थानोंपर मनुष्योंका वध करनाहि चाहिए । इस प्रकार उपदेशोंका भाव है । इन सब प्रमाणोंको यहां उद्धृत करके इस भूमिकाको अधिक लंबा बढाना मैं आवश्यक नहीं समझता । क्योंकि इस विषयकी अन्य बातें अश्वमेध, अजमेध आदि प्रकरणोंमें अपने अपने प्रतिपादनके साथ आनेवाली हैं ।

'पुरुषमेध के विषयमें महाभारतकी' साक्षी।

इस प्रकार मतभेदोंकी समालोचना करनेके पश्चात् अब थोडा ऐतिहासिक निरीक्षण करना चाहिए। जरासंध नामक एक अनार्य राजा पांडवोंके समय बडा शूर और प्रतापी था, जिसने अनेक राजाओंका पराभव करके उनको कारागृहमें इसलिये ला कर रखा था, कि उन सबके बली अपनी देवताकी तृप्तिके लिये देकर नरमेध किया जाय। इस जरासंधकी इच्छाका निषेध करनेके लिये श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन उसके पास गये थे। यदि इन आर्य राजाओंका कहना वह मानता और सुलह करता तो वह बच जाता, परंतु आर्यमतका स्वीकार न करनेके कारण तथा अपनेही अनार्यमतपर दृढ रहनेके कारण भीमने उस जरासंधको द्वंद्वयुद्धमें मार डाला, और सैंकडों राजाओंका होनेवाला बलि दान बंद किया। देखीए:--

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकविश्रुताः ॥
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥
राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम ॥
यद्राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥
अस्मांस्तदेनोपागच्छेत्कृतं बार्हद्रथ त्वया ॥
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥
मनुष्याणां समालंभो न च दृष्टः कुतश्चन ॥
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

महाभारत सभा. २२

श्रीकृष्ण जरासंधसे कहता है: - ' हे राजा ! तुमने प्रसिद्ध क्षत्रियोंको पकडकर रखा है । तेरा भयानक पाप होता हुआ भी तुम अपने आपको कैसे निष्पाप समझते हो ? हे राजाधिराज ! उत्तम राजाओंकी किस प्रकार एक राजा हिंसा करे ? तुम इतने राजाओंको बंदिखानेमें रखकर रुद्रदेवताके लिये उनका बलिदान करना चाहते हो? यदि तुमने वह बलिदानका कर्म किया, तो हम सबको वह पाप लगेगा; क्यों कि हम स्वयं धार्मिक लोगोंका रक्षण करनेमें समर्थ हैं । मनुष्योंका बलिदान किसी भी स्थानमें हमने नहीं देखा । तो तू किस प्रकार मनुष्योंके मांसका हवन करके, शंकरका यजन करनेकी इच्छा करता है ? '

इससे पता लग सकता है कि, आर्य राजालोग नरबलिदानका अत्याचार अपने राज्यमें तथा अपने पासके राज्योंमें करने नहीं देते थे । और इस प्रकारके कर्म, जब अनार्य राजालोग अपनी शक्तिकी घमंड करके, करने लगते थे, तब युद्धतक नौबत पहुंचती थी । जैसा कि जरासंधके साथ भीमका महायुद्ध हुआ और जरासंध मारा जानेके पश्चात सब कारागृह में रखे हुए राजाओंको खुला किया गया। आर्यत्व और अनार्यत्व गुणकर्मोंसे था न कि केवल जन्मसे। इसी कारण आर्योंका अनार्योंसे शरीरसंबंध होनेपरभी उनका अनार्यत्व वैसाहि समझा जाता था। इसी कारण जरासंध, रावण आदिकों को राक्षस माना गया था और कई रक्षसोंकी लडकियोंकी शादियां आर्य राजाओंके साथ भी होगयीं थीं । अस्तु। इस प्रकार नरबलिदानका श्रीकृष्णमहाराजने निषेध किया था। इसप्रकार नरबलिदान करना अनार्योंका कार्य था और आर्य राजालोग उसका निषेध किया करते थे। इसी दृष्टिसे ब्राह्मणग्रंथों के उल्लेख

देखने चाहिए। ऊपर दिये हुए महाभारतके श्लोकोंमें 'मनुष्याणां समालंभो न च दृष्टः कुतश्चन।' (नरबलिदान कहां भी देखा नहीं) यह वाक्य बड़ा विचार करने योग्य है। आर्य राजाओंका किया हुआ नरमांस-यज्ञ हमने आजतक सुना नहीं, यह भाव श्रीकृष्णजीका है। जो बात सुनीभी नहीं वह देखनी कहां? इस प्रकार न सुना और न देखा हुआ भयानक कर्म जरासंध कर रहा है, हमारे जैसे शक्तिशाली आर्य राजाओंकी विद्यमानतामें उक्त घोर कर्म नहीं होना चाहिये। यदि जरासंध सामोपचारसे नहीं सुनेगा, तो उसके साथ युद्ध करके उनको मनवाना हमारा कार्य होगा। उक्त कथामें यह भाव मुख्य है। उक्त कथामें महाभारतमें कई ऐसे श्लोक हैं कि जिनका आशय 'असवर्ण नरबलि' का दान करनेमें है ऐसा टीकाकार करते हैं, परंतु 'मनुष्योंका आलंभन हमने कहां भी देखा नहीं' ऐसा जो ऊपर वाक्य दिया है, उस वाक्यके साथ इसप्रकारका आशय विरुद्ध होनेसे ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

'नर-यज्ञ' वाचक शब्द वेदमें नहीं है।

पुरुषमेध, नरमेध, मनुष्य-यज्ञ, नर-यज्ञ, नृ-यज्ञ, ये अथवा इस भाववाले शब्द चारों वेदोंमें किसी स्थानपर नहीं हैं। अर्थात् ये शब्द पीछेसे बने गये हैं। यद्यपि इन शब्दोंमें प्रारंभमें कोई बुरा भाव नहीं होगा, तथापि ये नाम वेदमंत्रोंके समकालीन नहीं हैं और निःसंदेह आधुनिक हैं। ये नाम जिस किसी समय प्रारंभ हुए होंगे, प्रारंभमें इनका अर्थ वेदके आशयके अनुकूलहि होना अधिक संभवनीय है। क्योंकि वेदके सब अध्यायका तात्पर्य बतानेके लिये ये नाम प्रारंभमें शुरू हुए हैं। पीछेसे स्वेच्छाचारी लोगोंने मनमाने आचार प्रचलित किये और उन भिन्न

आचारोंके कारण उन शब्दोंका अर्थ भी भिन्न भिन्न होगया। इसलिये हमें भी इन शब्दोंके मूलहि अर्थ देखने चाहिए। इन शब्दोंके जो मूल अर्थ होते थे उनका संग्रह पूर्वस्थलमें किया है वहांहि पाठक उन अर्थोंको देखें और उनके आशयको सोचें।

नरमेधका विषय कहां कहां है?

वाजसनेय यजु. अ. ३० और ३१ में मुख्यतः यह विषय है। तैत्तिरीय संहितामें यह विषय नहीं है, परंतु तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१।१ में वाजसनेय संहितासेहि लिया है। ऋग्वेद मंडल. १।२४-३० तक ९७ मंत्र हैं उनका संबंध नरमेधसे बताया जाता है, जिनका विचार स्वतंत्रतापूर्वक करना चाहिये। और साथ साथ ऐतरेय ब्राह्मणकी शुनः शेपकी कथाका भी विचार करना चाहिये वह आगे किया जयगा। शतपथ ब्राह्मणके विवेचनका तात्पर्य पूर्व स्थलमें विस्तारपूर्वक बतायाही गया है। इसके अतिरिक्त पुराणोंमें नरमेधकी कथाएं नहीं हैं; केवल शुनःशेपकीहि है। अनार्य जरासंधकी कथा महाभारतमें आई है। उसका वर्णन पहिले हो चुका है। बस इतनेही स्थानोंपर नरमेधका उल्लेख आया है। अब हमें प्रथमतः यजु. अ. ३० का भाव देखना है।

यजुर्वेद अ० ३० का आशय।

'हे सबके उत्पन्नकर्ता ईश्वर! मनुष्योंमें सत्कर्मकी प्रेरणा करो और सत्कर्मके पालनकर्ताको उन्नतिकी प्राप्तिके लिये प्रेरित करो। ज्ञानसे पवित्र बना हुआ उत्तम दिव्य उपदेशक हम सबके ज्ञानको पवित्र बनावे। और उत्तम वक्ता हम सबका भाषण मीठा बनावे॥ उस उत्पादक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान

करते हैं, ताकि वह हम सबके बुद्धियोंको उन्नतिकी ओर प्रेरित करे। हे उत्पादक ईश्वर! सब दुष्ट भावोंको दूर कर और सब अच्छे भावोंको हम सबके पास कर। विलक्षण सिद्धिके वसु नामक धनका सब लोगोंमें योग्य विभाग करनेवालेकी, सबको उत्साहमय प्रेरणा देनेवालेकी तथा सब मनुष्योंको सुशिक्षित करनेवालेकी हम सब प्रशंसा करते हैं॥ ज्ञानके लिये विद्वान को प्राप्त करता है, शौर्यके लिये क्षत्रियके पास पहुंचता है, सब मनुष्योंके लिये वैश्यको नियुक्त करता है और परिश्रमके कर्मके लिये शूद्रको रखता है॥ ३० ॥ "

इसीप्रकार कर्मविभाग आगेके मंत्रोंमें बताया है। उसको पाठक स्पष्टीकरणमें भलीप्रकार देख सकते हैं। उसकी द्विरुक्ति यहां करनेकी आवश्यकता नहीं। यजु० अ० ३० के पहिले पांच मंत्रोंका भाव ऊपर दिया है, उसको देखनेसे किसीप्रकार भी नरके बलि-दानका विचार उनमें कहीं भी प्रतीत नहीं होता। 'मनुष्यत्वका विकास' करनेके लिये जिन जिन बातोंकी आवश्यकता है उन उन बातोंका उल्लेख उनमें है। तथा अवशिष्ट अध्यायमें विशिष्ट गुणोंका विकास करनेके साधनोंका वर्णन किया है। इसलिये इस अध्यायको नर-बलि-दानका सूचक मानना, समझना अथवा बताना, तथा इस अध्यायसे नर-बलि-दानकी प्रथा आर्योंमें अथवा वैदिक धर्ममें थी ऐसा अनुमान करना, सर्वथा भ्रांतिका चिन्ह है। (१) सबको सत्कर्मकी प्रेरणा करना (२) सबकी ज्ञानसे शुद्धि करना, (३) एक ईश्वरकी सामुदायिक उपासना करना, (४) सद्भावोंको पास करना और दुष्टभावोंको दूर हटाना, (५) ज्ञान, बल, धन, कुशलता इन चार वसुओंका सब लोगोंमें योग्य विभाग करना, (६) कर्मविभाग, कर्मका उत्साह और सुशिक्षा इनके

द्वारा सबका भला करना; यह भाव इस अध्यायके पहिले चार मंत्रोंका है । तथा मं० ५ से अध्यायसमाप्तितक वसुविभागका प्रकरणहि चला हुआ है । उसका प्रकरणशः वर्णन यहां करने की आवश्यकता नहीं है । उससे पता लग जायगा कि नरमेधका वैदिक आशय कितना अच्छा था और उसको कर्मकांडी लोगोंने कहांतक गिराया ।

पुरुष शब्दका अर्थ ।

अध्याय ३० में पुरुष शब्द नहीं है । अ० ३१ में पुरुष शब्द आया है । वहांहि उसका विस्तृत अर्थ पाठक देख सकेंगे। यह इतनाही बताना है कि इस पुरुषमेधमें ' पुरुष ' शब्दसे मुख्यतया 'परमेश्वर, परमात्मा, अथवा परब्रह्म ' लिया जाता है । और यही बात युरोपीयन लोगोंको खटकती है। पुरुषमेधसे नर-बलि-दानकी कल्पना करनेमें जो बडी भारी रुकावट है वह यही है । आगामी अध्याय ३१ में जो वर्णन है उससे स्वयं सिद्ध होता है कि, पुरुषमेधसे पुरुष अर्थात् एक ईश्वरकी मानसपूजा करना है और उस पुरुषमेधको करनेवाले देव हैं न की साधारण मनुष्य । यह देखनेके पश्चात्हि कई युरोपीयन कहते हैं कि, सब पुरुषमेध प्रकरण आलंकारिक है और इसका संबंध साक्षात परमेश्वरके साथहि है और नरबलिदानके साथ नहीं है ।

अध्याय ३२ में ' सर्व-मेध ' का वर्णन आता है । इस अध्यायका स्वतंत्र पुस्तक स्वाध्यायमंडलद्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस सर्वमेधका तात्पर्य सबमें जो मेध अर्थात् पवित्र, अर्थात् 'सर्वपूज्य'-परमेश्वर है, उसकी मानस-पूजा करना है । ' एकेश्वर उपासना ' इस अ० ३२ में कही है । उसकी तैयारीके लिये ' मनुष्यत्वका विकास ' करना इन दो अध्यायोंका उद्देश्य है ।

परमेश्वरका पुरुषमेध ।

परमेश्वरके पुरुषमेधका वर्णन शतपथमें निम्न प्रकार है-

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत । अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं पंचरात्रं क्रतुमपश्यत्, तमाहरत्, तेनाऽयजत, तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदं सर्वम-भवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते, यो वैतदेवं वेद ॥ १ ॥ शत. ब्रा. १३ । ५ । १ । १

'नारायण पुरुष (परमात्मा) ने इच्छा की । कि मैं सब भूतोंसे श्रेष्ठ बनूं और यह सब मैंहि बन जाऊं, उस (परमात्मा)ने यह पंचरात्र यज्ञ देखा, उसको लाया, उसका अनुष्ठान किया, उसके अनुष्ठानसे वह (परमात्मा) सब भूतोंमें श्रेष्ठ बना और यह सब वही बन गया; जो ऐसा जानता है और जो विद्वान पुरुषमेधका अनुष्ठान करता है, वह यह सब बनता है और वही सब भूतोंसे श्रेष्ठ बनता है । '

परमात्माके सर्वमेधका यह आलंकारिक वृत्तांत शतपथमें आया है । और सब विद्वान मनुष्योंको परमेश्वरके अनुरूप पुरुषमेध करना चाहिए ऐसाभी उक्त विधानमें कहा है । परंतु यदि प्रत्येक विद्वानको पुरुषमेध करना हो, और प्रत्येक पुरुषमेधमें १८४ मनुष्य मारे जाने हो, तो संभवहि नहीं कि प्रत्येकके लिये पुरुषमेध करनेका अवसर प्राप्त हो सके । यह यज्ञ सर्व लोकोंको करना उचित है, इसी एक बातसे सिद्ध है, कि यह यज्ञ हिंसामय कर्म नहीं है । अस्तु अब परमेश्वरके पुरुषमेधका तात्पर्य देखिए । अ० १३ के पहिले ५ मंत्रहि यहां देखेंगे—

परमात्माका पुरुषमेध ।

(१) (सविता) - परमेश्वर सबका उत्पादक, प्रेरक, और पोषक किंवा ऐश्वर्यवर्धक है।

(२) (प्रसुव यज्ञं) - सत्कर्मकी प्रेरणा करो। यज्ञ-सत्कार, संगति, दान।

(३) (यज्ञपतिं भगाय प्रसुव) - सत्कर्मकर्ताको ऐश्वर्य और उन्नतिके लिये प्रेरित करो।

(४) (केत-पूः गंधर्वः नः केतं पुनातु) - ज्ञानसे पवित्र वक्ता हमारे ज्ञानको पवित्र करे।

(५)(वाचस्पतिःवाचंस्वदतु) वक्ता वाणीको स्वादिष्ट बनावे।

(६) (वरेण्य - भर्ग-ध्यानं) - श्रेष्ठ तेजका चिंतन।

(७) (दुरित - निवारणं) - दुर्गुणोंका दूर करना और (भद्रस्वीकरणं) - अच्छे गुणोंका स्वीकार करना।

मनुष्यका पुरुषमेध ।

(१) मनुष्य सबको अच्छी उत्साहमय प्रेरणा करे, तथा उनका पोषण करके उनको ऐश्वर्यके मार्गसे चलावे।

(२) सत्कर्मकी प्रेरणा करो। यज्ञ --- सत्कार, संगति, दान।

(३) जो जो मनुष्य सत्कर्म करते हों, उनको उत्साह देकर, उनको ऐश्वर्य और उन्नतिके मार्गपर रहनेके लियेहि प्रेरणादो।

(४) स्वयं ज्ञानसे पवित्र बनना और दूसरोंको ज्ञानके साथ पवित्र बनाना।

(५) वक्ता दूसरोंके वाणीको पवित्र और मीठा बनावे।

(६) मनुष्य सदा श्रेष्ठ गुणोंकाहि विचार करे। कभी दुर्गुणोंका विचारतक मनमें नलावे।

(७) मनुष्य श्रेष्ठ गुणोंका स्वीकार और दुर्गुणोंका त्याग करे।(सत्यका ग्रहण औरअसत्य का त्याग करनेके लिये सदा मनुष्यको तत्पर रहना चाहिए।

' केन ' उपनिषद् ।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

१ केन उपनिषद् का मनन,	१८ इंद्र कौन है?
२ उपनिषद् ज्ञान का महत्त्व,	१९ उपनिषद् का अर्थ और व्याख्या,
३ उपनिषद् का अर्थ,	२० अथर्ववेदीय केन सूक्तका अर्थ और व्याख्या,
४ सांप्रदायिक झगडे,	२१ व्यष्टि, समष्टी और परमेष्टी,
५ "केन" शब्द का महत्त्व,	२२ त्रिलोकी,
६ वेदान्त,	२३ अथर्वाका सिर,
७ उपनिषदोंमें ज्ञान का विकास,	२४ ब्रह्मज्ञानी की आयुष्य मर्यादा,
८ अग्नि शब्दका भाव,	२५ ब्रह्म नगरी, अयोध्या आठचक्र,
९ उपनिषद् के अंग,	२६ आत्मवान् यक्ष,
१० शांतिमंत्रोंका विचार,	२७ अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश.
११ तिनों शांति मंत्रों में तत्त्व ज्ञान,	२८ देवी भागवतमें देवी की कथा,
१२ तीन शांतियोंका भाव,	२९ वेदका वागांभृणी सूक्त, इंद्र सूक्त, वैकुंठ सूक्त, अथर्व सूक्त,
१३ ईश और केन उपनिषद्,	३० शाक्तमत, देव और देवताकी एकता.
१४ "यक्ष" कौन है ?,	३१ वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता ।
१५ हैमवती उमा,	
१६ पार्वती कौन है?	
१७ पर्वत, पार्वती, रुद्र, सप्त ऋषि और अरुंधती'	

इतने विषय इस पुस्तक में आगये हैं, इस लिये उपनिषदों का विचार करने वालों के लिये यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य है।

मूल्य १।) रु. डाकव्यय ≡) है

मुद्रक तथा प्रकाशक--श्री. दा. सातवळेकर, भारत मुद्रणालय।